THE BOOK WAS DRENCHED

पुराणों की अमर कहानियाँ

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

साहित्य भवन प्रा० लि०
इलाहाबाद

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178428

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—881—5-8-74—15,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83·1 T83P Accession No. P.G.H315

Author त्रिपाठी, रामप्रताप

Title पुराणों की अमर कहानियाँ. 1962

This book should be returned on or before the date last marked below.

च. भाग

पुराणों की अमर कहानियाँ

[पुराणों की जीवनदायिनी सोलह अमर कथाएँ]

चतुर्थ भाग

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १६६२ ईसवी

ढाई रुपया

मुद्रक : श्री कमल प्रेस, चक इलाहाबाद

भूमिका

पुराणों की अमर कहानियाँ का चतुर्थ भाग आपके हाथों में है। इस चतुर्थ भाग में कुल सोलह कहानियाँ दी गई हैं। ये सभी कहानियाँ भारतीय जीवन की किसी न किसी विशेषता पर सुन्दर प्रकाश डालने वाली हैं। इनमें से प्राय: सभी के पात्र पुराण प्रख्यात हैं, किन्तु घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका प्रचार पुराण-विदों तक ही सीमित रहा है। जैसा कि पहले भागों की भूमिका में निवेदन कर चुका हूँ पुराण, महाभारत अथवा रामायण में ऐसी सहस्रों कथाएँ हैं जिनके द्वारा आज के जीवन में भी प्रेरणाएँ ली जा सकती हैं और साहित्यिक मनोरंजन के साथ-साथ अपने पूर्वजों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झाँकी भी ली जा सकती है।

आज हम शताब्दियों की क्रूर परतन्त्रता के अनन्तर स्वतन्त्र हुए हैं। अब तक हमारी शिक्षा-दीक्षा का दृष्टिकोण विदेशी था। हमारे बच्चों को यूरोपादि देशों के पूर्व-पुरुषों की कहानियों को पढ़ने के लिए तो विवश किया जाता था, किन्तु अपने देश के सच्चे इतिहास की जानकारी से भी उन्हें दूर रखा जाता था। वही बातें बतायी या सिखायी जाती थीं, जिन्हें हमारे विदेशी शासक अपने हित के प्रतिकूल नहीं समझते थे, किन्तु अब स्थिति बदल गई है। प्रत्येक दिशा में नव जागरण की बेला आ गई है। उस समय शताब्दियों की परतन्त्रता ने स्वभावतः हमारी दृष्टि में परिवर्तन कर दिया था। पुराणादि ग्रन्थों को हम केवल धार्मिक ग्रन्थ कह कर अथवा अधिकांश में कपोल-कल्पना समझकर उपेक्षित करते रहते थे, किन्तु अब उन उपेक्षित रत्नों का वास्तविक मूल्यांकन होने लगा है और आज का शिक्षित वर्ग भी उनमें क्या है, यह जानने के लिए इच्छुक है।

इसी दृष्टि से हमने पुराणों की केवल उन्हीं कहानियों को आज की भाषा एवं शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जो अपने पाठकों को कुछ न कुछ देने में सक्षम हैं और जिनमें हमारे देश की प्राचीन संस्कृति की कोई न कोई मनोरम झाँकी अवश्य मिलती है। इस ग्रन्थ-माला में कम से कम बीस भाग तो अवश्य ही होने चाहिए, क्योंकि पुराणों तथा महाभारतादि ग्रन्थों में ऐसी कई सौ कहानियाँ तो हैं ही, जो निःसंकोच सभी प्रकार के पाठकों के हाथों में दी जा सकें।

अन्त में हम साहित्यभवन लिमिटेड प्रयाग के सहृदय मंत्री बंधुवर श्री पुरुषोत्तमदास टन्डन, 'राजा मुनुआ' तथा प्रकाशनाध्यक्ष श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिनकी कृपा एवं सहयोग से इस ग्रन्थमाला का यह चतुर्थ भाग प्रकाश में आ रहा है।

रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री
प्रकाश निकेतन, कृष्ण नगर
इलाहाबाद

श्रावणी २०१९ वि०
१५ अगस्त, १९६२ ई०

अनवद्य प्रतिभा, छलकती सहृदयता और अविश्रान्त कर्मठता के

मनोहर समन्वय

श्रद्धेयवर पण्डित सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी

के कर-कमलों में

कहानियों का क्रम

१. राजा उशीनर की परीक्षा	...	१—८
२. पुरन्दर का उत्थान और पतन	...	९—२१
३. राजा नृग का पतन	...	२२—३४
४. प्रजापति त्वष्टा का पुत्रशोक	...	३५—४१
५. महर्षि दधीचि का अस्थिदान	...	४२—५०
६. वेदों की रक्षा	...	५१—६०
७. राजा सोमक और ऋत्विक	...	६१—६९
८. गुरु और शिष्य का संघर्ष	...	७०—७९
९. कमलों की चोरी में धर्म-मर्यादा	...	८०—९२
१०. उत्तंक की गुरु-दक्षिणा	...	९३—११३
११. उद्दण्ड राजकुमार दण्डक	...	११४—१२३
१२. पशुओं की वाक्शक्ति का अपहरण	...	१२४—१३२
१३. कुरुक्षेत्र का नामकरण	...	१३३—१४२
१४. वीतहव्य का जाति-परिवर्तन	...	१४३—१५२
१५. च्यवन का जन्म	...	१५३—१६२
१६. नमुचि का अश्वदान	...	१६३—१६८

राजा उशीनर की परीक्षा

महाराज शिवि के उत्तराधिकारी राजा उशीनर जब से राज सिंहासन पर बैठे थे तभी से धरती के सारे दुःख-दारिद्रय दूर हो गये थे। उनके शासनकाल में ठीक समय पर यथेष्ट वर्षा होती थी और अपने-अपने समय में शरद् और बसन्त ऋतुओं का मोहक सौन्दर्य धरती और आकाश में सर्वत्र फैल जाता था। राज्य भर की प्रजा में ऐसा एक भी परिवार नहीं था, जिसे किसी प्रकार का कोई कष्ट हो। राजा उशीनर ने अपने राज्य भर में यह घोषणा करा दी थी कि जिस किसी व्यक्ति को, जो कोई कष्ट हो वह मुझसे सीधे आकर मिले। रोग-दोष और मामूली बीमारियों में भी राजा उशीनर का शासन सदैव अपनी प्रजा की सहायता के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता था। रात हो या दिन, भीषण वर्षा हो या तूफ़ान राजा उशीनर के कर्मचारी प्रजा के हित के लिए कभी प्रमाद नहीं करते थे, और ऐसा अवसर नहीं आने देते थे कि प्रजावर्ग का कोई व्यक्ति अपनी कष्ट-कहानी लेकर राजा के पास पहुँच जाय।

राजा उशीनर प्रतिवर्ष एक महान् यज्ञ करते थे और उसकी विधिवत् समाप्ति होने पर उनके खजाने में जो कुछ भी धन-सम्पदा होती थी, वह सुपात्रों में दान कर देते थे। यहाँ तक कि अपने पहनने-ओढ़ने के कपड़े और खाने-पीने के पात्रों को भी वह दान में दे देते थे और यज्ञ के अनंतर दो-एक दिनों तक मिट्टी के पात्रों और पत्तल में भोजन किया करते थे तथा ऋषियों-मुनियों की भाँति बल्कल धारण करके अपना सब काम चलाते थे।

राजा उशीनर के इस महान त्याग और यज्ञ-निष्ठा की चर्चा भूमण्डल भर में फैल गई थी और ऐसे बहुत कम राजा थे जो उनके शासन के अधीन रहकर चलने में अपना गौरव न समझते रहे हों। इसका

परिणाम यह हुआ कि समूची धरती पर राजा उशीनर का बड़ा नाम हो गया था और जो भीतर से उनका सर्वत्र फैल हुआ यश और प्रभाव देखकर जलते थे वे राजा भी कभी उनके सामने आकर चूँ करने का साहस नहीं करते थे। इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गए और राजा उशीनर के राज्य में भूमण्डल पर न तो कोई युद्ध हुआ और न वैर-विद्रोह की कहीं से कोई चर्चा ही सुनाई पड़ी। धरती के सब लोग इतने सुख-सन्तोष और शान्ति से जीवन बिताते रहे कि उनके मन से देवताओं के स्वर्ग लोक को प्राप्त करने की कामना भी मानों भूल गई।

धरती की इस सुख-शान्ति की चर्चा धीरे-धीरे देवलोक में भी पहुँची और देवताओं ने भी राजा उशीनर के तप-त्याग और प्रभाव को मन से स्वीकार कर लिया। किन्तु देवताओं के स्वामी इन्द्र को स्वर्गलोक में राजा उशीनर के इस बढ़ते हुए महत्व और प्रभाव से स्वभावतः बड़ी चिढ़ हुई। वे यह नहीं सहन कर सके कि धरती के बाद स्वर्ग में भी राजा उशीनर का प्रभाव और यश बढ़ता रहे। आखिरकार वह स्वर्ग के सम्राट थे, देवताओं के स्वामी थे। मर्त्यलोक के एक मनुष्य का स्वर्गलोक में ऐसा व्यापक प्रभाव और महत्व स्वीकार करना उन्हें उचित नहीं मालूम पड़ा क्योंकि अतीत में ऐसा कभी नहीं हुआ था।

एक दिन देवराज इन्द्र ने अपने प्रमुख सहयोगी अग्नि देव को बुलाकर स्वर्ग लोक में राजा उशीनर के बढ़ते हुए प्रभाव की चर्चा के साथ जब उनसे अपनी चिन्ता प्रकट की, तब अग्निदेव ने बड़े स्पष्ट ढंग से कहा :—

'देवराज! मैं भी सम्राट उशीनर के गुणों का, उनके त्याग और तप का, उनकी यज्ञनिष्ठा और दान-परायणता का प्रशंसक हूँ। सच बात तो यह है कि जब से यह धरती बनी मैंने उशीनर के समान ऐसा कोई दूसरा राजा नहीं देखा है, जो सब प्रकार से अपनी प्रजा की हित-कामना के लिए सदैव तत्पर रहा हो। यों तो अनेक ऐसे सम्राट और राजा हो चुके हैं, जो अपने समय में सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रजा

हितैषी रहें हैं, किन्तु सब प्रकार से उशीनर की समानता करने वाला मुझे कोई दूसरा राजा नहीं दिखाई पड़ता। वह मरणधर्मा अवश्य है किन्तु उसकी साधना और तपस्या हम अमरों से बढ़कर है। उससे ईर्ष्या करना उचित नहीं है देवराज! मैं तो मानता हूँ कि विधाता की इस सृष्टि में समस्त सद्गुणों के आश्रय के रूप में उशीनर जैसे सर्वस्व-त्यागी और विवेकवान् राजा का होना परम आवश्यक है। धरती पर उसी के सुशासन का यह परिणाम है कि इधर अनेक वर्षों से हम देवता लोग भी सुख-शान्ति से स्वर्ग का सुख भोग रहे हैं। अन्यथा आये दिन भूमण्डल की विपदाओं में हमारी भी परेशानियाँ बढ़ जाती थीं।'

अग्निदेव की इन बातों से देवराज पर मानों घड़ों पानी पड़ गया। वह कुछ क्षण तो चुप रहे। फिर लम्बी साँसें खींचते हुए विषाद भरे स्वर में बोले—'अग्नि! मैं तुमसे ऐसी आशा नहीं करता था। क्योंकि स्वर्ग की सुख-शान्ति की कल्पना में तुम्हारे सक्रिय सहयोग की मुझे नितान्त अपेक्षा रहती है। मैं यह सब नहीं सुनना चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि जैसे भी हो, हमें उशीनर की तपस्या खण्डित करनी होगी, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वह धरती पर अखण्ड साम्राज्य भोगने के अनन्तर स्वर्ग के साम्राज्य की भी अभिलाषा करने लगे, जिससे हम सभी अपदस्थ हो जायँ।'

देवराज की बातों में यथार्थता थी। अग्नि को जब इसका अनुभव हुआ तो वह भी तत्क्षण चिन्तित स्वर में बोले—'देवराज! आप दूर-दर्शी हैं। मेरा तो इस ओर ध्यान भी नहीं था। ठीक है, हमें उशीनर के त्याग और तप की कड़ी परीक्षा लेनी चाहिए। आप जैसा कहेंगे, मैं वैसा करने के लिए सदा तैयार हूँ।'

देवराज बोले—'तो अब विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं है। हमें तत्काल भूमण्डल पर चलकर उशीनर के त्याग और तप की कड़ी परीक्षा लेनी है। मैं यह देखना चाहता हूँ कि वह कितना बड़ा धार्मिक और त्यागी है। अच्छा तो यह होगा कि उसके त्याग और तप का गर्व चूर-चूर कर दिया जाय।' अग्नि सहमत हो गये।

इस प्रकार आपस में सलाह पक्की करके देवराज इन्द्र और अग्नि स्वर्ग से चलकर मर्त्यलोक में पहुँचे और महाराज उशीनर की राजधानी में पहुँचने के पूर्व इन्द्र ने बाज पक्षी का और अग्नि ने कबूतर का रूप धारण कर लिया।

संयोगात् उस अवसर पर भी महाराज उशीनर अपने वार्षिक यज्ञ के अनुष्ठान में लगे हुए थे। उनका यज्ञ निर्विघ्न चल रहा था और स्वयं महाराज उशीनर भी सहस्रों होताओं के संग यज्ञकुण्ड में आहुति डाल रहे थे। प्रमुख पुरोधा और आचार्य वेद मंत्रों का पाठ कर रहे थे और चतुर्दिक सहस्रों की संख्या में दर्शक मौजूद थे।

इसी बीच एक कबूतर यज्ञ-मण्डप में घुसकर राजा उशीनर की गोद में अपने घायल पंखों को फड़फड़ाते हुए गिर पड़ा। उसके शरीर से रक्त की बूँदें चू रहीं थीं और अपने प्राणों के भय से वह करुण आवाज कर रहा था। उस घायल कबूतर के गिरने के साथ ही एक क्रुद्ध बाज पक्षी भी यज्ञ-मण्डप में उड़ता हुआ पहुँच गया और एक ऊँचे स्थल पर बैठ कर कबूतर को अपने पंजों में कस लेने के लिए जैसे उतावला होने लगा।

किन्तु वह घायल कबूतर राजा उशीनर की गोद में गिरते ही इस प्रकार छुप कर बैठ गया था, जैसे वह उनका वर्षों का पालतू रहा हो। यज्ञ-मण्डप में घटित इस अतर्कित दुर्घटना के कारण तत्काल सनसनी सी फैल गई। क्योंकि राजा उशीनर के राज्य में बहुत दिनों से इस प्रकार की कोई अप्रिय घटना घटित होते हुए नहीं देखी गई थी। पुण्यप्रद यज्ञ-मण्डप का वातावरण दूषित हो गया था। और जीवन भर दया और करुणा का प्रचार करने वाले राजा का अंक और वस्त्राभरण उस निरीह पक्षी के रक्त से गीला हो गया था। अतः आचार्य, पुरोहित, होता गण, कर्मचारी तथा दर्शक सभी विस्मय विमुग्ध होकर कभी राजा उशीनर की ओर, कभी उस भयंकर आकृति वाले बाज पक्षी तथा भयभीत कबूतर की ओर देखने लगे। इस प्रकार अभी कुछ ही क्षण बीते होंगे कि वह क्रुद्ध बाज गम्भीर स्वर में बोल पड़ा :—

"राजन् ! आपकी न्यायनिष्ठा और विवेक बुद्धि का इस धरती पर बड़ा मान किया जाता है। वह कबूतर जो आपकी गोद में छुपकर बैठ गया है, वह मेरा आज का आहार है। मैं कई दिनों से भूखा हूँ। अतः आप उसे छोड़ दें तो मैं अपनी भूख शान्त कर सकूँ।'

बाज की तेजस्विनी वाणी ने राजा उशीनर और उनके यज्ञ-मण्डप को स्तम्भित कर दिया। थोड़ी देर तक तो कोई कुछ भी नहीं बोल सका। तदनन्तर राजा ने कहा—'पक्षी ! शरणागत की रक्षा करना मानव मात्र का परम धर्म है। जो व्यक्ति प्राणभय से अपनी शरण में आए हुए प्राणी की रक्षा नहीं करता उसे ब्रह्महत्या अथवा गोहत्या के समान पाप लगता है। अतः मैं राजा और धर्म मर्यादा का जानकार होकर ऐसा कठोर पाप कैसे कर सकता हूँ।'

बाज तत्क्षण बोला—'महाराज ! प्राणी-मात्र की प्राणरक्षा आहार के द्वारा ही होती है। मैं कई दिनों से अनाहार के कारण अत्यन्त भूखा हूँ। यदि मुझे आज आहार न मिला तो मैं भी मर जाऊँगा और मेरे मरने से मेरे परिवार में मेरे सभी आश्रित भी मर जायेंगे, क्योंकि मैं ही अकेला उन सब की जीविका जुटाने वाला हूँ। अतः आप यदि एक प्राणी को बचाकर इतने प्राणियों को मारना चाहते हैं तो क्या यह कठोर पाप न होगा। मैं तो समझता हूँ कि इसमें आप और भी अधिक पाप के भागी होंगे।'

राजा उशीनर कुछ क्षणों के लिए सचमुच संकट में पड़ गए। फिर विचार कर बोले—'पक्षी ? तुम्हारा कथन ठीक हो सकता है किन्तु तुम्हें तो केवल आहार चाहिए। कबूतर को न मारकर तुम और कोई आहार क्यों नहीं मुझसे ले लेते। भैंसे, सुअर, बकरा, भेड़—जिस किसी पशु का मांस तुम खाना चाहते हो, उसे मैं तुम्हारे लिए तैयार करा सकता हूँ। तुम आज्ञा करो, मैं तत्काल तुम्हारे आहार की व्यवस्था कर दूँगा।'

बाज बोला—'राजन् ! विधाता ने बाज के लिए उत्तम भोजन की व्यवस्था कबूतर के मांस के रूप में ही की है। मैंने अपने बाल्यकाल से

कबूतर को छोड़कर किसी अन्य जीव-जन्तु का मांस नहीं खाया है, और न आगे ही खाने का मेरा विचार है। अतः मुझे तो आप मेरा यह कबूतर ही प्रदान करें।'

राजा उशीनर पहले तो कुछ हतप्रभ से हुए किन्तु फिर बोले—'पक्षी! तुम्हारा कथन सत्य हो सकता है। किन्तु मैं राजा हूँ। मैं अपने शरणागत की रक्षा के लिए यह सम्पूर्ण राजपाट छोड़ सकता हूँ। एक कबूतर के लिए तुम चाहो तो मेरे परम प्रसिद्ध पूर्वज शिवि आदि राजाओं का यह सम्पूर्ण राज्य ले लो या जो भी अन्य वस्तु चाहो मुझसे माँग सकते हो, किन्तु प्राणभय से उपस्थित इस कबूतर को मैं तुम्हारे लिए नहीं छोड़ सकता।'

बाज बोला—'किन्तु राजन्! मैं भी इस कबूतर के मांस को खाकर ही अपना जीवन धारण कर सकता हूँ। मुझे आपके या आपके पूर्वजों के इस विशाल राज-पाट की क्या जरूरत है। भला जब मेरे प्राण ही न रहेंगे तो मैं यह आपका राजपाट और धन-धरती लेकर क्या करूँगा।'

राजा बोले—'पक्षी! इसीलिए तो मैं कह रहा हूँ कि इस कबूतर को छोड़कर जिस किसी आहार द्वारा तुम अपनी क्षुधा की शान्ति कर सको, उसकी व्यवस्था मैं तत्काल करने को तैयार हूँ। किन्तु कृपाकर अब फिर से इस कबूतर को छोड़ने की बातें मुझसे न करो।'

बाज बोला—'महाराज! मैं देख रहा हूँ कि आपके हृदय में इस कबूतर के लिए जितनी ममता है उतनी मेरे प्राणों की रक्षा के लिए नहीं है। राजा को तो समदर्शी होना चाहिए। मैं भी तो केवल अपने प्राणों की रक्षा के लिए ही आप-से अपने आहार—इस कबूतर की मांग कर रहा हूँ। किन्तु आप हैं, जो कबूतर की रक्षा के लिए मेरा तथा मेरे भरे-पुरे परिवार का विनाश करना चाहते हैं।'

राजा बोले—'पक्षी! मेरी दृष्टि में तुम दोनों बराबर हो। मैं तुम्हारे प्राणों की रक्षा के लिए भी सब कुछ करने को तैयार हूँ, केवल इस कबूतर की माँग तुम मुझसे न करो।'

बाज बोला—'राजन्! आप यदि इस कबूतर के लिए इतना स्नेह

दिखा रहे हैं तो मैं इसके बराबर आपके शरीर का मांस लेकर सन्तुष्ट हो सकता हूँ। यदि ऐसी व्यवस्था आप कर सकें तो मैं इस कबूतर को छोड़ सकता हूँ।'

बाज की यह अप्रत्याशित वाणी सुनकर समूचा यज्ञ-मण्डप सिहर उठा। पुरोहित, होता गण और आचार्य का हृदय कांप उठा, दर्शक भयभीत होकर राजा उशीनर का मुँह ताकने लगे, किन्तु राजा उशीनर थे कि उन्होंने हँसते हुए बाज की अभिलाषा पूर्ति के लिए अपने अंग-रक्षकों को तत्काल मांस तौलने के लिए तराजू और अपने शरीर से मांस काटने के लिए तेज छुरी लाने की आज्ञा दे दी। यज्ञ का सम्पूर्ण कार्य-कलाप रुक गया। और सब के सामने राजा उशीनर ने कबूतर को तराजू के एक पलड़े में रखकर दूसरे पलड़े में अपने शरीर से मांस काट-काटकर रखना शुरू कर दिया।

अद्भुत दृश्य था। वह छोटा-सा कबूतर था किन्तु उसका वजन धीरे-धीरे इतना बढ़ गया कि राजा उशीनर के शरीर के सभी अंग प्रायः मांस-विहीन हो गए, फिर भी उसके वजन के बराबर का मांस उनके शरीर से नहीं निकल सका। फिर तो निरुपाय होकर राजा उशीनर उस कबूतर की रक्षा के लिए स्वयं दूसरे पलड़े में बैठ गए। उनके तराजू में बैठते ही यज्ञ-मण्डप में आकाश से पुष्पों की वृष्टि होने लगी। गगन-मण्डल में अवस्थित देवयानों में मांगलिक बाजे-बजने लगे और चारों दिशाओं में राजा उशीनर के तप-त्याग और बलिदान की मांगलिक चर्चा के साथ जय-जय कार होने लगा।

दर्शकों ने देखा कि न तो वहाँ वह बाज पक्षी है और न तराजू पर बैठा हुआ वह घायल कबूतर ही है। किन्तु सामने देवराज इन्द्र और अग्निदेव अपने अपने तेजस्वी स्वरूप से यज्ञ-मण्डप को चकाचौंध करते हुए मुस्करा रहे हैं। और उधर तराजू के एक पलड़े पर रखे हुए राजा उशीनर के शरीर के मांस तथा घायल शरीर के स्थान पर उनका युवा शरीर विराजमान है। उनके उस सर्वांगसुन्दर शरीर में न तो कहीं कोई घाव है, और न चिन्ता की कोई रेखा है। वह पहले से भी अधिक

सुन्दर, युवा तथा आकर्षक दिखाई पड़ रहे हैं। फिर तो राजा उशीनर ने तराजू के पलड़े से उठकर देवराज इन्द्र तथा अग्नि का विधिवत् अभिनन्दन किया और अर्घ्य, पाद्य आदि पूजा की वस्तुओं से उनकी अर्चना की।

तदनन्तर राजा उशीनर की पूजा-अर्चा से सुप्रसन्न देवराज इन्द्र ने कहा—'राजन्! आपके अनुपम दान, यज्ञ तथा प्रभाव की चर्चा पिछले दिनों जब स्वर्ग-लोक में पहुँची तो हमने अग्नि के साथ यह निश्चय किया कि आपकी परीक्षा क्यों न ली जाय। अतः मैंने ही स्वयं बाज का तथा अग्नि ने कबूतर का रूप धारण किया था। आप हम लोगों की इस कटोर परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। आज आपने जो अद्भुत कार्य किया है, जो ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है, वह धरती पर सदा-सदा के लिए अनुपम रहेगा। हम आप पर परम प्रसन्न हैं, और आपको वह अक्षय स्वर्गलोक प्रदान कर रहे हैं जो जीव-धारियों के लिए सदा दुर्लभ रहा है।'

यह कहकर देवराज इन्द्र तथा अग्नि राजा उशीनर के यज्ञ-मंडप से अन्तर्धान होकर अपने लोक को वापस चले गए और राजा उशीनर ने अपना उक्त यज्ञ पूरा किया। यज्ञ के अनन्तर अनेक वर्षों तक उन्होंने इस धरती पर राज्य किया।

पुराणों का कहना है कि राजा उशीनर ने अपने शरीर का जितना मांस काटकर बाज को खाने के लिए तराजू के पलड़े पर रखा था, अग्नि ने उसका कई गुना करके सुवर्ण के रूप में उन्हें वापस कर दिया और राजा उशीनर ने उस सारे सुवर्ण को यज्ञ में भाग लेने वाले पुरोहितों तथा होताओं आदि में बांट दिया।

जब तक राजा उशीनर इस पृथ्वी पर रहे, तब तक उनके दान और यज्ञ की परिपाटी उसी प्रकार चलती रही और जब उन्होंने कालधर्म से अपने शरीर का त्याग किया तब दिव्य-देह धारण कर सुवर्ण के सुसज्जित रथ में बैठकर अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति की और स्वर्गलोक में अन्यान्य देवताओं के साथ देवराज इन्द्र तथा अग्नि ने उनका विधिवत् अभिनन्दन किया।

पुरन्दर का उत्थान और पतन

स्वर्ग के निवासी देवताओं के राजा इन्द्र का पद मनुष्य भी प्राप्त कर सकता है। शर्त केवल यही है कि वह ऐसा अनुपम पुण्य-दान, जप-तप, और यज्ञ-योग करे, जैसा अब तक धरती भर में किसी दूसरे प्राणी ने न किया हो। यही कारण है कि जब कभी किसी धरती-निवासी का जप तप और दान पुण्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि स्वर्ग तक उसकी चर्चा पहुँच जाती है तो देवराज इन्द्र की चिन्ता बहुत बढ़ जाती है और वे अनेक प्रकार से उस मर्त्यलोकवासी का पुण्य क्षीण करने का उपाय करते हैं। अनेक बार इन्द्र को सफलता मिल जाती है किन्तु कभी कभी उन्हें असफल होकर अपदस्थ भी होना पड़ता है। एक बार देवराज इन्द्र के अपदस्थ होने की कथा इस प्रकार है :—

किसी समय भूमण्डल पर विशाला नाम की नगरी में पुरन्दर नाम का एक राजा था। पहले तो उसका राज्य बहुत बड़ा नहीं था किन्तु धीरे धीरे उसने अपनी सैन्य शक्ति का इतना अधिक संचय किया कि पास-पड़ोस के छोटे-छोटे राजाओं को वशवर्ती बना लेने के बाद उसने बड़े बड़े राजाओं पर दृष्टि डाली। किसी से मित्रता की और किसी से युद्ध किया। जिसने शिर उठाया उसे कुचल दिया और जिसने भेंट-पूजा लेकर अगवानी की, उसे करद बनाकर अनुगृहीत किया। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में वह धरती का अद्वितीय राजा बन गया और चारों ओर उसकी कीर्ति-पताका फहराने लगी। समुद्र की चंचल लहरों पर बैठकर उसकी यशोगाथा जब दिगन्तों तक पहुँच गई तो विदेशी समुद्र पार के राजाओं ने भी उसे सम्मानित किया। अपने अपने देश की दुर्लभ वस्तुओं की विविध प्रकार की भेंट-पूजा भेजकर उन-उन राजाओं ने भी पुरन्दर को वह अपूर्व सम्मान दिया, जो अब तक किसी दूसरे राजा को नहीं मिला

था। सुवर्ण, रजत, विविध प्रकार के रत्न और हीरे जवाहर की ढेरियों से उसका खजाना इतना भर गया कि कहीं रखने की तिल भर भी जगह नहीं बची।

पुरन्दर की राजधानी विशाला धरती की अपूर्व नगरी बन गई। राजभवन एवं कोषागार के चतुर्दिक राजपथों एवं बीथियों के चत्वरों पर सुवर्णादि की गगनचुम्बी चोटियाँ शोभा देने लगीं। जो दुर्लभ रत्नादि किसी अन्य राजा के पास चार छ की संख्या में होते, उनकी भी पुरन्दर के खजाने में कोई गणना नहीं होती थी। धरती की सारी सम्पदा मानों पुरन्दर की अकेली थी, इसी से बिना चाहे भी चतुर्दिक से आने वाली प्रतिदिन की भेटों का ताता लगा रहता था। बताते हैं, अब तक उतनी धन-सम्पदा और वैभव-विलास की सामग्री किसी ने कहीं अन्यत्र नहीं देखी थी। बड़े बड़े राजा महाराजा और ऋषि-महर्षि भी यही कहते थे कि—'पुरन्दर की विशाला नगरी में जितना सुवर्ण रत्नादि और धन-धान्य है उतना धरती भर में एकत्र करने पर भी नहीं है।'

पुरन्दर को अपनी राजधानी की इस अपूर्व श्री-सम्पदा का अब तक ऐसा ऊँचा अनुमान नहीं था। किन्तु जब एक दिन उसके महामात्य ने उससे करबद्ध निवेदन करते हुए प्रतिदिन बढ़ने वाली नई नई भेंट बहुमूल्य की सामग्रियों के रखने के लिए कोई स्थान शेष न रह जाने की असमर्थता प्रकट की तो वह परिहास के स्वर में बोला :—

'क्या हमारी नगरी की एक-एक पग भूमि सुवर्ण एवं रत्नादि के बोझ से विह्वल हो गई है, जो आप इस प्रकार की असमर्थता प्रकट कर रहे हैं।'

महामात्य बोला—'महाराज! सचमुच यही बात है। कोषागार में तिल भर भी जगह नहीं है। राज दरबार के सभी भवन मणि-मुक्ताओं से ठसाठस भर गए हैं। मुख्य राजपथ और वीथियों के चत्वरों पर ऐसी कोई जगह नहीं बची है, जहाँ सुवर्णादि की गगनचुम्बी चोटियाँ न बन गई हो, राजधानी में ऐसा कोई स्थान नहीं दिखाई पड़ता जहाँ नवीन

कोषागार बनाया जाय। और सब से बड़ी कठिनाई यह है कि भेंट पूजा की ये बहुमूल्य वस्तुएँ प्रतिदिन आपकी राजधानी में प्राप्त होती हैं, यदि ये व्यय न की जायँगी तो इनके रखने रखाने की व्यवस्था में ही अपार जन-शक्ति लगानी पड़ेगी।

राजा बोला—'तब फिर आपने इसका कोई उपाय तो सोचा ही होगा।'

महामात्य विनयभरी वाणी में बोला—'महाराज! मैं अकेले ही इतनी विशाल सम्पदा के विनियोग का उचित उपाय बताने में असमर्थ हूँ। मेरी प्रार्थना है कि इसके लिए सभी मंत्रियों, आचार्यों पुरोहितों और अन्य प्रमुख व्यक्तियों की एक गुप्त गोष्ठी बुलाकर कुछ तय किया जाय।'

पुरन्दर ने सहमति दे दी और जब वह मंत्रिमण्डल समेत, सेनापति, आचार्य तथा पुरोहित वर्ग और प्रमुख सामन्तों की गुप्त गोष्ठी बुलाई गई तो सर्वसम्मति से यही तय पाया कि इतनी प्रभूत धन-सम्पदा के उचित विनियोग का उपाय बताने की क्षमता बड़े-बड़े ऋषियों मुनियों में है। किन्तु इस बात पर सब ने सहमति प्रकट की कि इस विशाल सम्पदा द्वारा ऐसा कोई महान कार्य किया जाय जिससे महाराज पुरन्दर का नाम सदा-सर्वदा के लिए इस धरती पर अमिट हो जाय।'

राजा सहमत हो गया और इस गुप्तगोष्ठी के दूसरे ही दिन उसने राज्य शासन का सारा प्रबन्ध कुछ दिनों के लिए अपने मंत्रियों के हाथ में सौंपकर महर्षि भरद्वाज के आश्रम प्रयाग के लिए अपने रथ द्वारा प्रस्थान किया।

महर्षि भरद्वाज का आश्रम अपने समय में सम्पूर्ण भारत देश की सांस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना का प्रेरक स्थल था। वेदवंदिता पुण्यसलिला गंगा और यमुना के पवित्र संगम स्थल के कारण यहाँ सदैव किसी न किसी महान् ऋषि-मुनि का समागम होता ही रहता था। जिस समय अपने आकाश गामी रथ पर बैठकर राजा पुरन्दर प्रयाग में महर्षि भरद्वाज के आश्रम में पहुँचा उस समय महर्षि भरद्वाज सहस्रों ऋषियों-मुनियों एवं धार्मिक जनों के बीच धर्म की किसी रहस्यपूर्ण गुत्थी

का समाधान कर रहे थे। बड़ी विनय और श्रद्धा के साथ सभी ऋषियों-मुनियों का दंडवत् प्रणिपात करके राजा सामान्य नागरिक के वेश में श्रोताओं की उस मंडली के बीच में एक ओर चुपचाप बैठ गया और तब तक प्रतीक्षा करता रहा जब तक महर्षि भरद्वाज का प्रवचन चलता रहा। जब प्रवचन समाप्त हुआ और दर्शक अपने अपने स्थान की ओर चल पड़े तो राजा ने अपने परिचय के साथ महर्षि भरद्वाज की विधिवत् पूजा-अर्चना की और अपने आगमन का उद्देश्य उनसे कह सुनाया।

महर्षि भरद्वाज भूमण्डल की सभी प्रकार की गतिविधियों से सदैव परिचित रहते थे। उन्होंने राजा पुरन्दर का विधिवत अभिनन्दन किया। और उसकी शुभेच्छाओं की प्रशंसा करते हुए उन्हें सौ अश्वमेध यज्ञ करके इन्द्र-पद को प्राप्त करने की सत्प्रेरणा दी। पुरन्दर को अभी तक एक भी अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने का अवसर नहीं मिला था, अतः पहले तो उसने अपनी असमर्थता प्रकट की किन्तु जब महर्षि भरद्वाज ने उसकी अतीत की महान् सफलताओं की चर्चा करते हुए उसको महान् सैन्यशक्ति, प्रभाव और यश का सविवरण उल्लेख किया तो उसमें अडिग आत्मविश्वास का उदय हुआ और उसने भरद्वाज के आश्रम में ही सौ अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न करने का संकल्प इस शर्त के साथ ग्रहण किया कि उसके इन यज्ञों में स्वयं महर्षि भरद्वाज ही ब्रह्मा बनेंगे और यज्ञ का सम्पूर्ण क्रिया-कलाप उन्हीं की देख-रेख में देश के बड़े बड़े ऋषियों मुनियों द्वारा सम्पन्न किया जायगा।

पुरन्दर की प्रार्थना पर महर्षि भरद्वाज ने जब उसके सौ अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न कराने का भार स्वीकार कर लिया तो शीघ्र ही समूची धरती और स्वर्ग लोक तक इसकी चर्चा होने लगी। पृथ्वी पर ऐसा एक भी राजा उस समय नहीं था जो पुरन्दर के इन यज्ञों में बाधक बनता। बड़े बड़े प्रभावशाली राजा पहले ही वश्य बनाए जा चुके थे, जो दो चार शेष बचे थे, उनमें भी यह साहस नहीं

था जो भुवनविख्यात महर्षि भरद्वाज से टक्कर लेते। इधर महर्षि भरद्वाज ने अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ आदि अन्यान्य महान् ऋषियों को भी पुरन्दर के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए सहमत कर लिया था। ये सब के सब ऋषि ऐसे प्रभावशाली थे कि उनके मंत्र और तपोबल के सामने आँख उठाने की शक्ति स्वयं देवराज इन्द्र में भी नहीं थी। अतः जब पुरन्दर के इन यज्ञों की चर्चा से देवलोक भी आतंकित हो गया तो देवराज से भी कुछ करते धरते नहीं बन पड़ा। उनके मित्रों, पारिषदों और शुभैषियों की सभी पुरानी चालें व्यर्थ हो गईं।

इधर भूमण्डल पर जब पुरन्दर के सौ अश्वमेध यज्ञों का क्रम आरम्भ हुआ तो बिना किसी विघ्न बाधा के वह क्रमशः चलता ही रहा। यज्ञ के अश्व के साथ पुरन्दर की विशाल वाहिनी जिस ओर चलती उस ओर के राजा एवं शासक प्रायः एक साथ मिलकर पुरन्दर के सैनिकों का अभिनन्दन करते और स्वयं अपने अपने पास से यज्ञीय अश्व की रक्षा के लिए सेनाएँ कर देते। चारों दिशाओं में क्रमशः यही होता रहा और इसका परिमाण यह हुआ कि बहुत थोड़े ही दिनों में राजा पुरन्दर के जब सौ अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न पूरे हो गए तो भरद्वाज, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यपादि महान् ऋषियों के मंत्रबल से सभी देवता यज्ञ-मण्डल में प्रत्यक्ष प्रकट हुए और उन्होंने राजा के हविष्यान्न को स्वयं ग्रहण किया। यही नहीं, इन महर्षियों के प्रभावशाली मंत्रबल के सम्मुख त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और शिव को भी राजा पुरन्दर के यज्ञ में प्रत्यक्ष भाग लेना पड़ा और पुरन्दर को भावी इन्द्र की दुर्लभ उपाधि से विभूषित होने का वरदान देना ही पड़ा।

धरती पर ऐसा संयोग बहुत दिनों बाद हुआ। एक मृत्युलोक निवासी मरणधर्मा के यज्ञ में देवलोक वासियों की इस उपस्थिति और वरदान की चर्चा से सम्पूर्ण देवलोक और मृत्युलोक व्याप्त हो गया। मानवता की इस महान् विजय ने देव-जाति को जैसे झकझोर दिया। पुरन्दर की यशोगाथा से धरती और आकाश गूंज उठा। अचंचल पवन की

शीतल एवं सुगंधित लहरों पर तैरकर राजा पुरन्दर की कीर्ति पताका ने अमरावती की महिमा को मानों खर्वित कर दिया। अग्नि ने उसके अप्रतिम तेज का, सूर्य ने उसके प्रभाव का, चन्द्रमा ने उसकी सुन्दरता का, समुद्र ने उसकी गंभीरता का और गिरिराज हिमवान ने उसके अदम्य धैर्य का मानों सदा के लिए लोहा मान लिया। पशु-पक्षी, और कीट-पतंगादि भी पुरन्दर का गुणगान करने लगे और धरती ने तो मानों अपने इस लाड़ले बेटे के लिए अपना सर्वस्व ही लुटा दिया। पुराण कहते हैं, राजा ने अपने सौवें अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर पुरोहितों और ऋषियों-मुनियों को इतनी प्रचुर दक्षिणाएँ दीं कि वे कई पीढ़ियों के लिए अयाच्य हो उठे। धरती पर कोई दीन-दुखिया बचा ही नहीं। जो भी राजा के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए पहुँचे वे सब पीढ़ी-दर पीढ़ी के लिए धनाढ्य बन कर लौटे।

ऋषियों-मुनियों के आश्रमों तक राजा ने अनेक हाथी, घोड़ों और खच्चरों पर सुवर्ण एवं रत्न राशियाँ भेजीं। परिणाम यह हुआ कि अनेक पीढ़ियों तक धरती के कोने-कोने में राजा के इस महान् यज्ञ की चर्चा चलती रही।

इस प्रकार राजा पुरन्दर के सौ अश्वमेध यज्ञों की समाप्ति के अनन्तर पृथ्वी का वातावरण स्वर्ग के समान शान्त, निरुपद्रव और वैरविरोध-विहीन बन गया। न कहीं कोई अभाव रहा और न किसी प्रकार के छल छिद्र की आवश्यकता ही रही। धरती की सारी प्रजा पारस्परिक सुख-शान्ति, सर्व-कल्याण-भावना एवं धर्म के कार्यों में ऐसी अनुरक्त रही कि पाप-पाखण्ड के अवसर ही समाप्त हो गए। सर्वत्र सदा चरण, नैतिकता, सत्यपरायणता, अद्रोह और मैत्री का ऐसा मनोमोहक वातावरण बन गया था कि राजा पुरन्दर को भी यह धरती छोड़कर स्वर्ग का आधिपत्य स्वीकार करना अच्छा नहीं लगा। अपने प्रति धरती के सम्पूर्ण निवासियों के अकलुष प्रेम और अपार आदर को छोड़कर वह अनेक वर्षों तक स्वर्ग नहीं गये। उधर स्वर्ग के देवता

लोग उनकी अगवानी की उत्सुक प्रतीक्षा करते रहे और इधर पृथ्वी और उसके निवासियों के प्रति राजा के हृदय में इतना अधिक स्नेह बढ़ गया कि वह यहीं के राजा बने रहे। किन्तु अन्त में बहुत दिनों बाद जब उन्हें देवलोक का यह एकान्त सन्देश मिला कि अब धरती पर उनके राज्य-शासन की अवधि पूरी हो चुकी है तो एक दिन बड़ी अनिच्छा से चुपचाप देवराज इन्द्र के पुष्पक विमान पर चढ़कर वह अमरावती को चले गये।

राजा पुरन्दर के स्वर्ग चले जाने की चर्चा से धरती पर हाहाकार मच गया किन्तु उनके नीति-निपुण मंत्रियों और उत्तराधिकारियों ने बड़ी कुशलता से जनता का अपार शोक-संवेग दूर किया और उनके बताए हुए मार्गों मे शासन का ऐसा सुप्रबन्ध किया कि धीरे-धीरे पुनः पूर्ववत् शान्ति हो गई। उधर स्वर्ग लोक के देवताओं ने बड़े उत्साह और उल्लास से पुरन्दर का स्वागत किया और अनेक युगों के बाद इन्द्र के महान् पद पर पुरन्दर जैसे अप्रतिम प्रतापी एवं महाबली सम्राट् का अभिषेक कर आनन्द के समुद्र में निमज्जित-से हो गए। देवताओं के छठें इन्द्र मनोजब ने जब पुरन्दर को अपना पदभार सौंपकर विरक्त का जीवन आरम्भ किया तो देवताओं ने अपार हर्षध्वनि की और बड़े उत्सव मनाए।

देवताओं का स्वामित्व ग्रहण करने के अनन्तर पुरन्दर ने देवताओं के सहज वैरी असुरों को भी अपने अधीन करने के लिए असुर सम्राट् पुलोमा की महान् रूपवती कन्या शची के साथ अपना विवाह किया। शची के इन्द्राणी बन जाने के अनन्तर बहुत वर्षों तक देवताओं और असुरों में प्रगाढ़ मैत्री-भावना बढ़ी, जिसका परिणाम यह हुआ कि अनेक युगों बाद देवताओं ने अपूर्व सुख-शान्ति का अनुभव किया और वे सहज भाव से पुरन्दर के अभ्युदय के आकांक्षी बन गए। यम, कुबेर, वरुण, पवन, अग्नि, चन्द्रमा एवं सूर्यादि ने पुरन्दर के सच्चे हितों के प्रति सहज निष्ठा दिखाई और पुरन्दर ने भी बड़ी न्याय-निष्ठा से समस्त देवजाति के अभ्युदय एवं कल्याण के कार्यों में बड़ी रुचि ली।

शची से पुरन्दर को दो सन्तानें हुईं। एक पुत्र जिसका नाम देव गुरु बृहस्पति ने जयन्त रखा और एक पुत्री, जिसका नाम जयन्ती रखा। किन्तु पुरन्दर ने इन्द्र हो जाने के बाद भी अपने प्यारे पृथ्वी निवासियों के प्रति अपनी सहज स्नेह-भावना का आदर करते हुए अपना पुराना नाम पुरन्दर ही रखा। देवताओं के नाम-परिवर्तन सम्बन्धी अनुरोध को अस्वीकार करते हुए उसने स्पष्ट कर दिया कि हमारे हृदय में स्वर्ग लोक के निवासी देवताओं के समान ही पृथ्वी लोक के निवासियों के प्रति भी अपार स्नेह है। मैं दोनों लोक-निवासियों के प्रति समान हित-चिन्तक बना रहना चाहता हूँ, अतः आप लोग मेरा धरती पर का नाम ही रहने दें, जिससे पृथ्वी लोक के निवासियों को मुझसे कोई दुराव न रहे। यद्यपि अपनी उच्चता के अभिमानी अनेक देवताओं को पुरन्दर का यह उत्तर सन्तोष नहीं दे सका तथापि वे कर ही क्या सकते थे। विवश होकर सातवें इन्द्र का पुरन्दर नाम उन्होंने भी स्वीकार कर लिया।

पुरन्दर इन्द्र के शासन काल में धरती और स्वर्ग के सम्बन्धों में बड़ी मधुरता आ गई। यज्ञ-यागादि का प्रचार अधिक हुआ और प्रायः प्रति दिन धरती पर कहीं न कहीं देवताओं का स्वागत-समादर होने लगा। उधर असुरों में भी जहाँ देवताओं के प्रति कटुता और संघर्ष के बादल छाये रहते थे वहाँ शची के प्रयत्नों से हास-परिहास एवं मधुर प्रसंगों की अनवरत वर्षा-सी होने लगी। अनेक देवताओं के साथ असुरों से पारिवारिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गये। और इस प्रकार अनेक युगो बाद धरती, स्वर्ग और असुर लोक में पुरन्दर के प्रताप से अपार सुख-शान्ति का समुद्र लहराने लगा और देवताओं की सारी बाधाएं बीत जाने के कारण ब्रह्मा, विष्णु और शंकर को भी सुख की नींद आने लगी।

किन्तु देवराज पद का सिंहासन ऐसा था कि उस पर बैठकर पुरन्दर के लिए चिरकाल तक यथापूर्व बना रहना सरल नहीं था। स्वर्ग-साम्राज्य

की मुकुट-मणि को धारण कर बहुत दिनों तक उसकी मति अनाविल नहीं रह सकी। स्वर्ग लोक में रहते-रहते धरती का वह पुरन्दर समाप्त हो गया, जिसकी न्यायनिष्ठा, विनयशीलता, सच्चरित्रता, धार्मिकता, और लोकप्रियता पर विष्णु को भी ईर्ष्या होती थी। असुर-कन्या शची के अपार सौन्दर्य-सिन्धु में डूबने के लिए पुरन्दर ने वारुणी को जो सहारा लिया तो मानों सदा के लिए उसके बल-विवेक और न्याय-नय की समाप्ति हो गई। उसमें भोग-विलास की ऐसी अदम्य इच्छा का उदय हुआ कि समूचा स्वर्ग का साम्राज्य सिहरने लगा। उसकी विनयशीलता की सदा प्रशंसा करने वाले दिग्पालों में उसके प्रचण्ड क्रोध का ऐसा आतंक जम गया कि सहसा किसी में पुरन्दर के सामने जाने की हिम्मत ही नहीं पड़ती। जहाँ पहले वह देवजाति के हितों के लिए दिन रात प्रमाद रहित रहकर चिन्ता किया करता था वहीं शची के अन्तःपुर से बाहर निकलने का भी उसे अवकाश नहीं रह गया। देवगुरु बृहस्पति के उद्बोधनों की भी वह अब अवज्ञा करने लगा और जब देवताओं का स्वामी होकर देवलोक की ही उसे चिन्ता नहीं रह गई थी तो असुरों और पृथ्वी-लोक के निवासियों की चिन्ता वह कैसे कर सकता था। परिणाम यह हुआ कि देवताओं के सहज वैरी असुरों का पुराना वैमनस्य फिर फूट पड़ा और इधर धरती के निवासियों में भी देवताओं के प्रति विरक्ति और उपेक्षा की भावना उपजने और बढ़ने लगी।

एक दिन देवगुरु बृहस्पति ने अनुकूल अवसर देखकर पुरन्दर को उसके वर्तमान जीवन से विरत करने की जब बड़ी चेष्टा की तो उन्हें कुछ होश आया। उन्होंने बृहस्पति के परामर्श से सर्वदेवाराध्य शंकर के दर्शनों के लिए कैलास शिखर पर जाने का कार्यक्रम निश्चित किया।

शंकर जी ने इन्द्र की मनोवृत्ति की परीक्षा के लिए भयंकर गणपति का रूप धारण किया और इन्द्र तथा बृहस्पति के मध्य मार्ग को पहले से ही ऐसा घेर लिया कि किसी को आगे जाने का स्थान नही हीं रह

गया। संयोगवश कैलास के मार्ग में ही अश्विनीकुमार नासत्य और दस्र की बृहस्पति से भेंट हो गई थी और वे किसी सन्दर्भ पर उनसे बातें करते हुए मन्दगति से चले जा रहे थे। किन्तु इन्द्र को अपनी प्राणप्रिय शची और वारुणी का यह स्वल्पकालिक वियोग भी असह्य था। वह बृहस्पति के सन्तोषार्थ किसी प्रकार शीघ्र से शीघ्र शंकर जी का दर्शन कर शची के समीप पहुँचना चाहते थे अतः बृहस्पति और दोनों अश्विनीकुमारों की बातों को बीच में ही छोड़कर वह कुछ तेजी से आगे बढ़ गए थे। कुछ आगे पहुँचने पर जब पुरन्दर ने मध्य मार्ग में एक विशाल गणपति द्वारा अपना मार्ग रोका हुआ देखा तो उनके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उन्हें यह भी ध्यान में नहीं आया कि हम शंकर जी के आश्रम के समीप हैं और उनके आश्रम के समीप स्वयं उनके या उनके गण के सिवा कोई दूसरा ऐसा काम नहीं कर सकता। अपने बल और प्रभाव की मदिरा में वह इतने उन्मत हो गए कि तत्काल अपना बज्र उठाकर उक्त गणपति को दूर हटाने की चेष्टा करते हुए क्रुद्ध स्वर में बोले—

'अरे दुष्ट! तू बता कौन है, जो देवराज का मार्ग रोकने की कुचेष्टा करता है। बता, शंकर जी यहाँ हैं या कहीं बाहर गए हुए हैं?'

किन्तु उक्त गणपति ने कोई उत्तर देना तो दूर उसने इनकी ओर आँखें उठाकर देखा भी नहीं और जिस प्रकार पहले से मार्ग रोककर वह खड़ा था, उससे भी अधिक तत्परता से इनका मार्ग रोककर खड़ा हो गया। उसे बज्र से ढकेल कर मध्य मार्ग से दूर हटाने की देवराज की चेष्टा सर्वथा निष्फल हो गई। इस पर देवराज को अपार क्रोध हुआ और उन्होंने अपना यह प्रत्यक्ष अपमान देखकर उस गणपति को मार डालने के लिए अपना प्रचण्ड बज्र फिर उठाया। उनके बज्र उठाते ही धरती जोरों से हिल गई, आकाश के तारे परस्पर टकरा गए। बड़े-बड़े गिरि-गह्वर गूंज उठे। नदियों के जल स्थल पर बहने लगे और चराचर में अपार भय व्याप्त हो गया। देवताओं के लोक में तो भयंकर

अपशकुन हुए। राजधानी अमरावती की मुख्य पताका का दण्ड अपने आप टूट गया और शची का हृदय अनागत अशुभ की दुष्कल्पनाओं से इतना कांपने लगा कि वह अकस्मात् हाहाकार कर रुदन करने लगी। किन्तु यह क्या? देवराज पुरन्दर का अमोघ बज्र उनके हाथों से छूटकर बलात् नीचे गिर पड़ा और वह गणपति ज्यों का त्यों पुरन्दर का अपमान सा करता हुआ मध्य मार्ग में अकड़ा खड़ा ही रह गया।

अपने मानुष और अमर जीवन में पुरन्दर को ऐसे अपमान का अवसर कभी नहीं मिला था। उनका अमर्ष इतना विकृत हो गया कि उक्त गणपति को दुर्वचन सुनाते हुए वह अपना बज्र उठाकर बगल के स्थान से आगे निकल कर उस पर पुनः प्रहार करने के लिए आगे बढ़े। किन्तु गणपति ने इस बार उन्हें धक्का देकर आगे बढ़ने से रोक दिया। इस पर पुरन्दर और भी क्षुब्ध हुए और बड़े वेग से गणपति को धक्का मार कर गिरा देने या समाप्त कर देने के लिए पुनः अपना बज्र उठाकर दुर्वचन कहते हुए दौड़ पड़े।

अब शंकर जी से इन्द्र का यह घोर अपराध सहन नहीं हो सका। और वह अपना तीसरा नेत्र उघाड़कर उसकी भीषण ज्वाला में पुरन्दर को क्षार कर देने के लिए ज्यों ही प्रस्तुत हुए त्यों ही दोनों अश्विनीकुमारों के साथ बृहस्पति उनके सामने आकर खड़े हो गए। किन्तु शंकर जी के तृतीय नेत्र से जो ज्वाला बाहर निकल चुकी थी, उसे सम्हालना अब स्वयं उन्हीं के वश में भी नहीं था। उस ज्वाला का अतिशय वेग यद्यपि बृहस्पति पर ही पड़ा तथापि शंकर जी की इच्छा से देवराज पुरन्दर का शरीर निश्चेष्ट होकर धरती पर गिर पड़ा और उनकी वह लोक-विमोहक सहज सुन्दरता नष्ट हो गई जो प्रतिक्षण शची, देवताओं और देवांगनाओं के गर्व का कारण बनी थी।

देवगुरु बृहस्पति ने अपने मंत्रबल से यद्यपि अपने शरीर को क्षार होने से बचा लिया था तथापि देवराज पुरन्दर की रक्षा वह भी नहीं कर सके और जब उनके शतशः प्रयत्नों के बाद भी पुरन्दर को संज्ञा-

लाभ नहीं हुआ तो विद्युत-गति से यह अशुभ संवाद समस्त देवलोक, भूमण्डल और असुर लोक में फैल गया। बेचारे देवताओं के शोक का ठिकाना नहीं रहा। और पुलोमा की पुत्री इन्द्राणी शची का बहुत बुरा हाल हो गया। वह विलख-विलख कर करुण-क्रन्दन करने लगी। उसके शिर की चूड़ामणि टूट गई, वेणियाँ बिखर गई और रक्त-कमल-दलायत नेत्र निरन्तर रुदन के कारण अग्नि-वर्ण के हो गए। अबोध जयन्त और जयन्ती को तो कुछ सुझाई ही नहीं पड़ रहा था और वे भी शिर पीट-पीट कर रो रहे थे। युगों बाद देवलोक में आई इस भीषण विपदा की बाढ़ में डूबती देवजाति को सम्हालने की क्षमता वृहस्पति के सिवा किसी अन्य में नहीं थी। किन्तु शिव जी का क्रोध इतना अपार था कि उसमें उन्हें भी पहले थाह नहीं मिल सकी।

देवगुरु वृहस्पति शंकर की स्तुति में लग गए। फिर तो आशुतोष शंकर जी की सहज प्रसन्नता का उदय हुआ। अपने गुरु महर्षि अंगिरा के पुत्र वृहस्पति की मान-रक्षा के लिए उन्हें पसीजना ही पड़ा। और अन्त में वृहस्पति की शतशः प्रार्थनाओं के उत्तर में उन्होंने कहा—

'देवगुरु! तुम्हारी इच्छा का विघात करना मुझे इष्ट नहीं है। यद्यपि पुरन्दर का अभिमान और अपराध क्षम्य नहीं रह गया है तथापि देवजाति की रक्षा, शची और उसकी सन्तानों का करुण-क्रन्दन और आप की शतशः प्रार्थना के कारण मैं उन्हें पुनः जीवन दान करता हूँ। तुम मूर्छित देवराज पुरन्दर के समस्त अंगों पर अपना हाथ फेरो।

वृहस्पति के प्राणद कर-कमलों के स्पर्श से देवराज पुरन्दर की मूर्च्छा जब दूर हुई तो उनके कुम्हलाए हुए शरीर की आभा पुनः पूर्ववत् हो गई। वह मुस्कराते हुए ऐसे उठ बैठे मानों कुछ हुआ ही नहीं था। किन्तु अपने सामने शंकर जी को प्रत्यक्ष उपस्थित देखकर उन्हें उक्त घटना का जब पूर्ण स्मरण हो आया तो लज्जावनत शिर से शंकर जी की वह मुक्तकण्ठ से स्तुति करने लगे। पुरन्दर की स्तुति ने शंकर

जी का अमर्ष निर्मूल कर दिया और उन्होंने प्रसन्न चित्त से पुरन्दर को अपने कण्ठ से लगाते हुए कहा —

'वत्स ! मनुष्य हो या देवता, कोई बड़ा पद पाने पर उसे अपना विवेक और विनय नहीं त्यागना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, आलस्य और विलासिता—इन सब दुर्गुणों का त्याग किए बिना कोई व्यक्ति बड़े पद पर चिरकाल तक आसीन नहीं रह सकता। ये ऐसे दुर्गुण हैं, जिनमें से किसी एक के कारण भी कोई अपने पद से हटाया जा सकता है। आज तो बृहस्पति के कारण तुम्हारे जीवन की रक्षा हो गई किन्तु आगे फिर से ऐसा प्रमाद कभी मत करना।'

देवराज पुरन्दर ने शङ्कर की आज्ञा को आशीर्वाद के समान सर्वात्मना स्वीकार किया और देवगुरु बृहस्पति के साथ वह उनके चरणों में शीस झुकाकर देवलोक को वापस चले आए। और तब से फिर कभी उन्होंने ऐसा अवसर नहीं आने दिया।

पुराणों का कथन है कि शङ्कर जी द्वारा इन्द्र को इस प्रकार पुनर्जीवन देने के कारण ही इस घटना के बाद बृहस्पति का दूसरा नाम 'जीव' पड़ा और उनके सदुपदेशों और प्रेरणाओं का पुरन्दर के जीवन-क्रम पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह चिरकाल तक देवताओं के स्वामी बने रहे और अपने पद से च्युत नहीं किए गए।

———

राजा नृग का प्रायश्चित्त

प्राचीन काल में नृग नाम का एक परम धार्मिक तथा पराक्रमी राजा था। उसकी दान और यज्ञों में बड़ी निष्ठा थी। राज-काज से जब कभी उसे तनिक भी अवकाश मिलता था तो वह अपने पुरोहितों के संग नये-नये प्रकार के यज्ञ और दान के प्रसंगों का निश्चय करता था और साधनों के जुटते ही उस नूतन यज्ञ और दान का क्रम आरम्भ कर देता था। राजा नृग को राज्य से जो भी आय होती थी, उसका अधिकांश वह यज्ञों और दान में व्यय करता था और स्वयं ऐसी सादगी, सदाचार और विनम्रता से रहता था कि समूचे राज्य की प्रजा अपने पिता के समान उसे आदर और सम्मान देती थी। किन्तु इसके विपरीत विधर्मियों, अत्याचारियों तथा पापियों के लिए राजा नृग काल के समान भयंकर और क्रूर था। अपराध होने पर वह अपने पुत्र तथा परिजनों को भी क्षमा नहीं देता था और शत्रु गण उसके प्रचण्ड प्रताप से इतने आंतकित रहते थे कि कभी भूलकर भी उसके अहित की चिन्ता नहीं करते थे।

एक बार राजा नृग ने अपने पुरोहितों के परामर्श से बाराह तीर्थ में पयोष्णी नदी के किनारे एक ऐसा यज्ञ आरम्भ किया, जैसा बहुत दिनों से इस धरती पर किसी दूसरे राजा ने नहीं किया था। पुराणों का कहना है कि राजा नृग के इस महान यज्ञ में स्वयं देवराज इन्द्र ने इतना सोमपान किया कि वह मस्त होकर झूम उठे और सहस्रों ब्राह्मणों ने इतनी दक्षिणा प्राप्त की कि हर्षोल्लास से परिपूर्ण होकर वे अनेक पीढ़ियों तक के लिए अयाच्य बन गए।

शास्त्रीय विधियों के अनुसार राजा नृग ने जब सभी प्रकार के यज्ञों की अनेक आवृत्तियाँ समाप्ति कर लीं तो पुरोहितों के परामर्श से उसने

कुछ दिनों के लिए यज्ञों का सिलसिला बंद कर दिया। क्योंकि धनिक पुरोहितों को राजा के विशाल यज्ञों में बारम्बार भाग लेने से बड़ा कष्ट होता था, उनकी आंखों की ज्योति मन्द हो जाती थी, दिन-रात राजा के यज्ञों की सविधि समाप्ति की चिन्ता के कारण वे दुर्बल हो जाते थे और अपने बाल-बच्चों के बीच में न रहने के कारण उनके लिए तरसते रहते थे। अतः पुरोहितों ने राजा नृग को सुझाया कि—

'महाराज ! शास्त्रों में गोदान की बड़ी महिमा है। गोदान का महत्त्व यज्ञों से कम नहीं है। शास्त्रों में अब ऐसा एक भी यज्ञ नहीं है, जिसे आप अनेक बार न कर चुके हों, अतः यदि आप गोदान में ही अपनी सत्प्रवृत्तियों को लगाएँ तो यज्ञों से कम पुण्य नहीं मिलेगा।

यज्ञों में अनेक अवसरों पर अप्रिय प्रसंग भी उपस्थित हो सकते हैं किन्तु गोदान में तो ऐसी एक भी बाधा नहीं है। अत: हम सब की राय है कि आप कुछ दिनों के लिए यज्ञों का क्रम बंद रखें और गोदान के द्वारा ही अपनी सन्तुष्टि करें।'

राजा सहमत हो गया और भविष्य में उसने गोदान के द्वारा ही यज्ञों का पुण्य प्राप्त करने का निश्चय किया। कहते हैं, सर्वप्रथम उसने एक लाख सवत्सा एवं प्रचुर दूध देने वाली गौओं को सुपात्रों में दान किया। गोदान के साथ उसने जीवन भर उन गौओं के पालन-पोषण भर के लिए आवश्यक दक्षिणाएँ भी दीं। उसके इस लक्ष गोदान की धरती पर बहुत दिनों तक चर्चा होती रही और उधर राजा ने अपने गोदान को अनवरत चालू रखने के लिए मंत्रिमण्डल को सम्पूर्ण धरती से चुनी-चुनी गौओं का इतना बड़ा समूह एकत्र करने की आज्ञा दी कि जिससे प्रतिदिन सौ-सौ गौएँ दान की जा सकें।

राजा नृग के चतुर मंत्रियों ने धरती भर से गौओं की चुनी-चुनी नस्लों में से प्रभूत संख्या में गौएँ मगवाईं और राजधानी से अनतिदूर किसी बन में उनके विधिवत् पालन-पोषण, सम्बर्धन एवं चराने का ऐसा सुप्रबन्ध किया कि थोड़े ही दिनों में उन गौओं से अगणित गौएँ और

बछड़े तैयार होने लगे। और जब तक ऐसा नहीं हो सका तब तक राजा नृग का प्रतिदिन सौ गौओं के दान का क्रम नहीं चल सका। किन्तु फिर भी उन्होंने कुछ दिनों तक रुककर दो बार में दो सौ गौओं के दान का क्रम बना लिया था।

उस बन में जब गौओं की संख्या इतनी पर्याप्त हो गई कि राजा नृग का प्रतिदिन सौ गौओं के दान का क्रम बराबर चलता रहे तो मंत्रिमण्डल ने राजा को यह शुभ संवाद सुनाया। राजा की आज्ञा से उस दिन राज्यभर में गोसम्बर्धन दिवस का बड़ा उत्सव मनाया गया और यह घोषणा की गई कि जिस किसी भी व्यक्ति को उत्तम गौओं की आवश्यकता हो वह राजा के यहाँ से आकर ले जाय। इस सूचना का परिणाम यह हुआ कि राजा नृग के राज्य भर के ही नहीं दूसरे राज्यों के लोग भी राजा नृग की राजधानी में आकर गौएँ और उनके जीवन भर खिलाने-पिलाने भर की दक्षिणा ले जाने लगे।

राजा नृग का यह गोदान-क्रम अनेक वर्षों तक अबाध रूप से चलता रहा। पहले तो वे प्रतिदिन सौ गौओं का ही दान करते रहे किन्तु जब उनके मंत्रियों ने सूचना दी कि बन में गौओं की इतनी अधिक संख्या हो गई है कि उनके रखने और चरने भर की जगह नहीं रह गई है और वे प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं तो राजा ने सौ गौओं की संख्या को बढ़ाकर एक सहस्त्र गौओं का दान प्रतिदिन देने का क्रम निश्चित किया। पुराणों का कहना है कि इस प्रकार राजा ने बाइस वर्ष से अधिक समय तक अपने गौ समूह से अस्सी लाख गौओं का दान किया और कुल मिला कर उनके द्वारा दी गई गौओं की संख्या इक्यासी लाख दो सौ हो गई।

किन्तु इसके बाद एक अप्रत्याशित दुर्घटना हुई। राजा नृग की गौएँ जिस वन में रहती थीं, उसके कुछ समीप कोई गाँव था, जिसमें एक परम सन्तोषी तथा विद्वान अग्निहोत्री ब्राह्मण का घर था। ब्राह्मण जितना स्वल्प सन्तोषी, आचारवान् तथा धार्मिक प्रवृत्तियों का था, उतनी ही

सुखी उसकी गृहस्थी भी थी। ब्राह्मण के पास एक सर्वगुणसम्पन्न गौ थी। गौ में पर्याप्त दूध ही नहीं था, वरन् वह अच्छे बछड़ों को देने वाली, सीधी-सरल इतनी सुन्दर और स्वस्थ थी कि देखने वालों को अनायास मोह लेती थी। उस गौ के कारण ब्राह्मण की गृहस्थी बड़े सुख से चल रही थी। उसके दूध दही से न केवल परिवार भर को पुष्टि ही मिलती थी वरन् उसके सुपुष्ट बछड़ों से कृषि का भी कार्य चलता था और देवता तथा पितरों को सन्तुष्टि मिलती थी।

किसी दिन ब्राह्मण देवता अपने एक यजमान के कार्य से गौ को उसके बछड़े के साथ चरने के लिए छोड़कर कहीं प्रवास में चले गए। और यजमान के कार्यों में व्यस्त होने के कारण वे कई दिनों तक अपने घर वापस नहीं आ सके। इधर गौ अपने बछड़े के साथ होने के कारण निश्चिन्त थी। वह चरते-चरते भटक गई और भटकते हुए उस वन में जा पहुँची जहाँ राजा नृग की गौएँ रहती थीं। वन में राजा की गौओं का इतना बड़ा समूह था कि किसी भी चरवाहे या ग्वाले के लिए प्रत्येक गाय का पहचानना असंभव था। परिणाम यह हुआ कि उस अग्निहोत्री ब्राह्मण की गाय भी राजा की गौओं के साथ मिला ली गई और एक दिन वन के चरवाहों और ग्वालों ने उस गाय को भी राजा नृग द्वारा दान में दी जाने वाली गौओं के साथ कर दिया जिससे राजा ने अनजान में उस गाय को भी एक ब्राह्मण को दान में दे दिया। यह सारी घटना चार ही छ दिनों के भीतर घटित हो गई और इसी बीच उक्त अग्निहोत्री ब्राह्मण प्रवास से अपने घर वापस आ गया।

ब्राह्मण को अपनी गाय अत्यन्त प्रिय थी। जब घर वापस आने पर उसे अपनी गाय नहीं दिखाई पड़ी तो वह अपनी भूख-प्यास और थकान की कोई चिन्ता न कर गाय को ढूढ़ने के लिए तुरन्त घर से निकल पड़ा। कई दिनों तक भटकते रहने के बाद उसे अपने गाँव से कुछ दूर एक दूसरे गाँव में एक ब्राह्मण के घर अपनी गाय दिखाई पड़ी। वह दूर से देखते ही अपनी गाय पहचान गया और जैसे ही गाय के

समीप पहुँचा तैसे ही गाय ने भी कई दिनों के बाद अपने प्यारे स्वामी को समीप उपस्थित देखकर अपनी प्यार भरी मधुर आवाज द्वारा उसका स्वागत किया। ब्राह्मण जब अपनी प्यारी गाय के पीठ और मुख पर हाथ फेर कर उसे सहलाने लगा तो गाय भी प्रसन्नता से भरकर पूँछ ऊपर उठाकर ब्राह्मण का मुख सूंघते हुए उसे चाटने लगी। इसी बीच गाय का नया स्वामी अपने घर के भीतर से निकला और गाय के पास एक अजनबी व्यक्ति को इस प्रकार खड़े देखकर स्वयं गाय के समीप पहुँच कर उससे ऐसा करने का कारण पूछने लगा—

पहले ब्राह्मण ने कहा—'महाशय ! यह मेरी अत्यन्त प्यारी गाय हैं। कई दिनों से यह हमारे घर से गायब हो गई थी, मैं बाहर गया हुआ था, अतः जब वापस आने पर इसे नहीं देखा तो ढूँढ़ने निकल पड़ा। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आपने मेरी गाय को बड़े सुख से रखा, मैं इसके लिए आपका अत्यन्त अनुग्रह मानता हूँ।'

दूसरे ब्राह्मण ने बीच में ही बात काटते हुए कहा—'महाशय ! आपको भ्रम हो रहा है। यह तो मेरी गाय है, जिसे मैं महाराज नृग के यहाँ से दान-स्वरूप प्राप्त करके ले आया हूँ। प्रायः ऐसा होता है कि दो पशु ही क्या दो मनुष्य भी समानाकृति के मिल जाते हैं। कोई बात नहीं, आप अपनी गाय की अन्यत्र तलाश करें, और मेरी गाय को अपनी गाय समझने के भ्रम में न रहें।'

पहला ब्राह्मण बोला—'महाशय ! आप ही भ्रम में हैं। जिस गौ के साथ पिछले अनेक वर्षों तक मैं रह चुका हूँ, अपने ही हाथों से जिसकी मैंने बराबर सेवा की है, उसे पहचानने में भ्रम करने की बात सर्वथा निर्मूल है। आप देख रहे हैं कि केवल मैं नहीं, वरन् मेरी गाय भी भ्रम में नहीं हैं। वह मुझे दूर से देखते ही बोलने लगी है और मेरे अंगों को कितने प्यार से चाट रही है। मैं आकृति के भ्रम में पड़ सकता हूँ किन्तु गाय को आप भ्रम में पड़ने की बात कैसे कहते हैं। मैं तो

समझता हूँ कि आप ही को इस गाय के सम्बन्ध में धोके में डाला गया है।'

दूसरा ब्राह्मण बोला—'खैर, जो भी हो, यह गाय मुझे महाराज नृग के यहाँ से प्राप्त हुई है। आप मेरे गाँव के अन्य लोगों से इसका पता भी लगा सकते हैं। अतः मैं आपको इसे वापस नहीं दे सकता। आप राजा नृग के यहाँ जाइए और अपनी बातें उन्हीं से कहिए।'

दूसरे ब्राह्मण की ऐसी कठोर बातें सुनकर पहले ब्राह्मण को बड़ा धक्का लगा। वह ऐसे रूखे-सूखे उत्तर को सुनने के लिए कथमपि तैयार नहीं था, अतः कुछ क्षुब्ध स्वर में बोला—

'यह गाय मेरी है, और मैं इसे ले जाने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हूँ। आप गाय को बंधन से छोड़कर देख सकते हैं कि वह मेरे पीछे जाती है या आपके खूँटे पर खड़ी रहना पसन्द करती है। चोरी की गाय को अपनी बताते हुए आपको लज्जा होनी चाहिए।'

दूसरा ब्राह्मण भी इस अप्रिय विवाद के लिए तैयार नहीं था। अपने घर पर सबके सामने राजा नृग के यहाँ से दान द्वारा प्राप्त गाय को वह ले आया था। गाय इतनी सीधी, सरल, दुधारू और सुन्दर थी कि उसे किसी भी मूल्य पर छोड़ने के लिए वह तैयार नहीं था अतः प्रथम ब्राह्मण को फटकारते हुए बोला—

'विवादप्रिय विप्र! तुम व्यर्थ ही मुझसे विवाद करते हो। तुम्हें अपनी गाय के लिए महाराज नृग के यहाँ जाना होगा। यह गाय पहले भले ही तुम्हारी रही हो किन्तु अब तो यह हमारी है और मैं किसी भी मूल्य पर अपनी गाय छोड़ने के लिए तैयार नहीं हूँ।'

दोनों ब्राह्मणों के बीच इस अप्रिय विवाद की चर्चा ज्यों ही गाँव में फैली त्योंही अनेक ग्रामवासी बिना बुलाए ही वहाँ पहुँच गए और एक गाय के पीछे दो ब्राह्मणों की इस अप्रिय विवाद की भर्त्सना करते हुए उन्हें समझाने-बुझाने की चेष्टा करने लगे। अन्त में ग्रामवासियों की मध्यस्थता से यह विवाद इस रूप में तय हुआ कि दोनों ब्राह्मण गाय

के साथ महाराज नृग के यहाँ जायं और उनका जो निर्णय हो उसे स्वीकार करें।

फिर तो दोनों ब्राह्मण गाय को साथ लेकर राजा नृग के दरबार में उस समय पहुँचे जब राजा प्रतिदिन की एक सहस्र गोदान की क्रिया को सम्पन्न करने में लगे थे। जब गोदान का कार्य समाप्त हुआ और राजा अपने पुरोहित वर्ग के साथ राजभवन की ओर प्रस्थित हुए तो दोनों ब्राह्मणों ने उक्त गाय के साथ राजा के सामने पहुँचकर इस विवादास्पद विषय को उनके सामने प्रस्तुत किया।

द्वितीय ब्राह्मण बोला—'महाराज! अभी थोड़े ही दिन हुए होंगे कि आपने यह गाय मुझे दान में दी थी, किन्तु यह महाशय इसे अपनी गाय बतलाकर मुझसे विवाद कर रहे हैं।'

राजा नृग प्रतिदिन एक सहस्र गौएँ दान में देते थे। और वे गौएँ भी एक से एक अच्छी होती थीं, अतः उन्हें इस गाय को देने का पूरा स्मरण नहीं था। किन्तु उस युग में ब्राह्मण लोग झूठ नहीं बोलते थे अतः इस बात में सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं थी। उन्होंने ब्राह्मण की बात को सर्वांशतः सत्य मान कर पहले ब्राह्मण से अपना पक्ष उपस्थित करने का अनुरोध किया।

पहला ब्राह्मण कई दिनों की अनवरत परेशानी से बहुत थक गया था। भूख-प्यास और चिढ़ से भी उसकी मानसिक स्थिति अशान्त थी। वह छूटते ही बोला—'राजन्! वास्तव में यह गाय मेरी है। और आपने उसे चुरा लिया है। चोरी का धन दान में देकर आपने मिथ्या यश और पुण्य-प्राप्ति का जो यह उपाय किया है, वह आपके दोनों लोकों को बिगाड़ सकता है। आप जिस किसी भी उपाय से जानना चाहें, इस बात की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं कि—यह मेरी गाय है। अनेक वर्षों से यह मेरे यहाँ है। यह मेरे पीछे-पीछे कहीं भी जा सकती है यद्यपि पिछले अनेक दिनों से यह मुझसे अलग रह चुकी है। अतः मैं चाहता हूँ कि आप मेरी गाय मुझे वापस दिला दें।'

राजा नृग बड़े संकट में पड़ गये। पुरोहितों और सैकड़ों राज-कर्मचारियों के सामने उस ब्राह्मण ने उन पर चोरी जैसे जघन्य पाप का जो आरोप लगाया था, उसे अन्यथा सिद्ध करना असंभव था। बड़ी देर तक वह सिर नीचे किए हुए खड़े रहे और तदनन्तर बड़े विनय और अनुरोध के स्वर में द्वितीय ब्राह्मण से हाथ जोड़कर बोले—

'पूज्य विप्रदेव ! मैं इस गाय के बदले अपनी गौओं में से चुनी हुई एक सहस्र गाएँ आप को देता हूँ। आप कृपाकर इनकी गाय इन्हें वापस कर दीजिए और मुझे इस जघन्य पाप से उबार लीजिए।'

किन्तु राजा नृग की यह प्रार्थना सुनकर द्वितीय ब्राह्मण का सहज अमर्ष प्रबुद्ध हो गया। वह क्षुब्ध स्वर में कुछ रूक्षता के साथ बोला—

'महाराज ! यह सर्वथा असंभव है। यह गौ मुझे अत्यन्त प्यारी है, क्योंकि मैंने अपने जीवन भर में इतनी सीधी, सुन्दर, सुन्दर बछड़े देने वाली और दुधारू गाय नहीं देखी है। इसके दूध, दही और घी में अपूर्व स्वाद है। इसमें इतनी अधिक दयालुता है, जितनी माता में हो सकती है। मेरी स्त्री का अभी कुछ ही दिनों पूर्व निधन हो चुका है। मेरे छोटे मातृविहीन शिशु का माता के समान यही पालन-पोषण करती है, अतः मैं अपनी इस प्यारी गौ को कदापि वापस नहीं कर सकता।'

यह कहकर वह अपने अत्यन्त अमर्ष और क्रोध के आवेग को सहन न कर सकने के कारण वहाँ से अपनी गौ को लेकर अपने घर की ओर वापस चल पड़ा और राजा नृग तथा उनके पुरोहितों आदि की ओर आँखें उठाकर देखा भी नहीं।

तब निरुपाय और चिन्तित राजा ने उस पहले ब्राह्मण से अत्यन्त विनय और प्रार्थना के स्वर में कहा—'भगवन् ! आप अपनी उस एक गाय के बदले में मुझसे एक लाख गौएँ ले सकते हैं। मैंने अनजान में आप की गौ को अपनी समझकर दान में दे दिया है, इसमें अवश्य मेरा

अपराध है और मैं अपने इस अपराध के लिए आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।'

किन्तु वह ब्राह्मण अपनी प्यारी गौ के चले जाने के कारण इतना क्षुब्ध और विचलित हो गया था कि उसे राजा की प्रार्थना पर विचार करने की भी फुरसत नहीं थी। वह रुष्ट स्वर में बोला—

'मैंने जीवन भर में किसी राजा से कभी दान नहीं लिया, क्योंकि मैं स्वयं अपने लिए धन का उपार्जन करने में पूर्ण समर्थ हूँ। और मुझे अपने परिवार की जीविका भर के लिए जितने धन की आवश्यकता पड़ती है, उससे अधिक धन-सम्पदा का संग्रह करना मैं घोर पाप समझता हूँ। अतः आप की एक लाख गौएँ मेरे लिए व्यर्थ हैं। मुझे तो अपनी वही प्यारी गाय चाहिए जो पिछले अनेक वर्षों से मेरी माता की भाँति मेरे समूचे परिवार का पालन-पोषण करती रही है। आप यदि न्याय-परायण हैं तो मुझे मेरी वही गाय शीघ्र वापस मँगाकर दीजिए।'

राजा नृग बड़े संकट में पड़ गये। बड़ी देर तक वह धर्म की सूक्ष्म मर्यादाओं पर विचार करते रहे। फिर विनयभरी वाणी में बोले—

'भगवन्! आपकी उक्त गौ को अपनी गौ समझकर मैं उक्त ब्राह्मण को दान कर चुका हूँ। दान दी गई वस्तु को वापस लेने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। अतः मुझे इस धर्म-संकट से उबारने का उपाय आप के ही हाथों में है। मैं आपकी उस गौ के लिए, आप जितना भी चाहें सवर्ण, रजत, भूमि, अश्व, रथादि आपको दे सकता हूँ। आप मेरे प्रमादजनित अपराध को क्षमा कर के जो कुछ भी लेना चाहें, ले लें और मेरा उद्धार करें।'

किन्तु राजा की इस विनम्र प्रार्थना का उक्त ब्राह्मण के चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपनी प्यारी गौ के लिए इतना विक्षुब्ध और विह्वल था कि आँसू बहाते हुए चुपचाप अपने घर की ओर वापस चला गया और राजा नृग किंकर्त्तव्यविमूढ़ की भाँति अपने पुरोहितों एवं कर्मचारियों के साथ जहाँ के तहाँ खड़े रह गए।

अपने जीवन भर में राजा नृग पर ऐसी विपत्ति कभी नहीं पड़ी थी। दोनों ब्राह्मणों के चले जाने के अनन्तर इस जटिल समस्या के सुलझाने में अपने को सर्वथा असमर्थ समझकर उनकी मनोदशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। वह कई दिनों तक निराहार और निर्जल रहकर शोकाग्नि में जलते रहे। उनके पुरोहितों, धर्माध्यक्षों और पारिषदों ने उसे समझाने-बुझाने का बहुतेरा प्रयत्न किया किन्तु राजा को शान्ति नहीं मिल सकी और वह धीरे-धीरे घुल-कर ऐसे हो गये कि थोड़े ही दिनों में उनके शरीर में चलने-फिरने की और उठने-बैठने की भी शक्ति नहीं रह गई।

तदनन्तर जो कुछ होना था वही हुआ। राजा नृग का इसी शोक-संवेग में शरीरान्त हो गया। और जीवन भर अपने महान दान और यज्ञों के पुण्य के प्रभाव से वह जब स्वर्गलोक में पहुँचे तो धर्म के देवता यमराज ने उसकी अगवानी की और बड़ा स्वागत-सत्कार किया।

यमराज के स्वागत समादर के अनन्तर राजा नृग ने जब स्वर्गलोक में अपने स्थायी निवास के सम्बन्ध में पूछा तो यमराज ने कहा—

'राजन्! तुम्हारे पुण्य-कर्मों की तो कोई गणना नहीं है। धरती पर ऐसे पुण्यशाली महापुरुष बहुत कम हुए हैं जो आपके समान जीवन भर यज्ञ और दान में ही लगे रहे हों। अतः इस स्वर्ग लोक में आपको अनन्त काल तक स्थायी रूप से निवास करने का फल प्राप्त है। किन्तु अपने जीवन के अन्तिम दिनों में आपके द्वारा एक पाप-कर्म भी हुआ है, जिसका प्रायश्चित्त किए बिना ही आपका शरीरान्त हो गया और मृत्यु के समय भी आपके मन में उस पाप का भय बना हुआ था, अतः उसका कठोर दण्ड भोगने के लिए आप बाध्य हैं। आप को उक्त पाप का दण्ड भोगे बिना छुटकारा मिल भी नहीं सकता। अतः आप यदि चाहें तो अपने पुण्यकर्मों के फल को पहले भोग लें और पीछे इस पाप का दण्ड भोगें और यदि न चाहें तो पहले पाप का फल भोग कर उसके पीछे पुण्य-कर्मों का अक्षय फल भोग करें।'

राजा को यमराज की बात पर आश्चर्य तो नहीं हुआ, किन्तु फिर भी उन्होंने कहा—'प्रभो ! आप कृपाकर मेरे उक्त पाप की व्याख्या कर दें कि मैं उससे छुटकारा क्यों नहीं पा सकता। क्योंकि मैं तो समझता हूँ कि मैंने जान-बूझकर कोई पाप नहीं किया था और अज्ञान में किए हुए पाप का दण्ड कभी-कभी क्षम्य भी हो जाता है।'

यमराज बोले—'राजन्। आपका उक्त पाप-कर्म इतना साधारण नहीं है, जितना आप समझते हैं। क्योंकि आप राजा थे। शासन पर अभिषिक्त होने के समय अपनी सारी प्रजा के धन-जन की रक्षा करने की शपथ आपने ग्रहण की थी अतः उस अग्निहोत्री ब्राह्मण की गाय के खो जाने के कारण आपकी प्रतिज्ञा झूठी हो गई। इसके अतिरिक्त दूसरा अपराध आपका यह था कि आपने उक्त ब्राह्मण की गाय का अपने कर्मचारियों की भूल के कारण अपहरण कर लिया था। आप को अपने कर्मचारियों के व्यवहार पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए थी। राजन् ! दूसरे के अपहृत धन का दान करके आपने भयंकर पाप किया है। अतः किसी भी दृष्टि से इस पाप का भोग किए बिना आपका छुटकारा नहीं हो सकता। हाँ, आप जैसे परम धार्मिक तथा नीति-परायण राजा के लिए मैं विशेष रूप से यह छूट दे देता हूँ कि आप अपने इस पाप का फल चाहें तो पहले भोग लें और चाहें तो बाद में भोगें।'

राजा नृग निरुत्तर हो गए। उन्होंने कुछ क्षण विचार कर कहा— 'प्रभो। मैं सर्वप्रथम अपने उक्त पाप का फल भोग करूँगा और फिर उसके बाद पुण्य का उपभोग करूँगा। क्योंकि सुख भोगने के बाद दुःख भोगना अत्यन्त कष्टकारक होता है।'

पुराण कहते हैं, राजा नृग के मुँह से इस वाक्य का निकलना था कि वह स्वर्ग से नीचे की ओर गिरा दिए गए और धरती पर द्वारकापुरी के समीपवर्ती वन्य-प्रान्त के एक विशाल कुएँ में उन्हें गिरगिट की योनि प्राप्त हुई। चूँकि जिस समय उनका शरीर छूटा, उनके हृदय में उक्त दोनों ब्राह्मणों के विवाद की घटनाएँ स्मरण

करने के कारण दुःख दे रही थीं अतः अपने मन में वह उस गिरगिट की सी अपनी परिस्थिति को समझ रहे थे जो प्रत्येक ऋतु में अपने शरीर का रंग बदल देता है और प्रतिक्षण अपना शिर हिलाया करता है। राजा ने सोचा था कि मैंने पहले ब्राह्मण की बात मानकर उसकी बातों पर अपना सिर हिला दिया था और बाद में दूसरे ब्राह्मण की भी बातें सुनने के बाद अपना सिर हिला दिया था और प्रत्येक की बातों को सच मानकर किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका था, अतः मेरी परिस्थिति ठीक गिरगिट के समान है।

अपने शरीरान्त के समय की इस गिरगिट की सी मानसिक परिस्थिति की भावना से नृग को अपने उस पाप के फल का भोग करने के लिए तिर्यक योनि में गिरगिट का शरीर मिला और अपने पूर्वजन्म के शुभ-संस्कारों के प्रभाव से उसका उस योनि में भी पूर्ववत् ज्ञान बना रहा।

पुराणों का कहना है कि राजा नृग को यह गिरगिट योनि सहस्रों वर्षों तक भोगनी पड़ी और द्वापर युग के अन्त में जब भगवान् श्रीकृष्ण यदुवंशियों के साथ समुद्रतटवर्ती प्रदेश में द्वारकापुरी बसाने के लिए गये तो एक दिन क्रीडानिरत यदुवंशी बालकों के एक समूह ने द्वारका पुरी के समीपवर्ती वन्यप्रान्त के एक पुराने कुएँ के भीतर झाँका तो उन्हें वह विशालाकार गिरगिट दिखाई पड़ा, जो अपने भयंकर शरीर के कारण कुएँ की सतह पर पड़ा हुआ था। उसके कारण कुएँ का सारा जल ढँका हुआ था।

बालकों को ऐसा विशाल गिरगिट देखकर बड़ा कुतूहल हुआ और उन्होंने रस्सी और चमड़े की पट्टियाँ डालकर उसे बाहर निकालने की बड़ी चेष्टा की, किन्तु वह इतना भयंकराकार था कि किसी भी प्रकार से बाहर नहीं निकल सका। अन्ततः बालकों ने यह विस्मयजनक संवाद जब भगवान् श्रीकृष्ण को सुनाया तो वह स्वयं उस विचित्र गिरगिट को देखने के लिए कुएँ के ऊपर आए।

अपनी दिव्यदृष्टि के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण को यह समझने में देर नहीं लगी कि यह राजा नृग हैं, जो अपने पाप कर्म का फल भोगने के लिए इस प्रकार उस कूएँ में पड़े हुए हैं। उन्होंने तत्काल अपनी युक्ति द्वारा उस अन्धकूप से निकाल कर गिरगिट योनि से राजा नृग का उद्धार किया, जो बड़े कष्टों के साथ सहस्रों वर्षों से अपने पाप का कुफल भोग रहे थे।

भगवान् श्रीकृष्ण का अति दुर्लभ एवं चिरवांछित दर्शन करने के अनन्तर राजा नृग को अपने महान् पुण्यों का फल भोगने का शुभावसर प्राप्त हुआ। वह दिव्यमार्ग द्वारा तत्क्षण उस स्वर्ग लोक में पहुचे जहां अपने लोक के निवासियों के संग यमराज उनका स्वागत करने के लिए खड़े थे।

इस प्रकार जीवन भर दान और यज्ञ में लगे रहने वाले अनुपम पुण्यशाली राजा नृग को अपनी एक साधारण भूल के कारण सहस्रों वर्षों तक तिर्यक् योनि में कष्ट उठाना पड़ा और उस पाप-कर्म का फल भोगने से वे किसी प्रकार बच नहीं सके।

———

प्रजापति त्वष्टा का पुत्र-शोक

त्वष्टा नामक प्रजापति का पुत्र अपने जन्मकाल से ही तीन शिरों वाला था। पिता माता ने यद्यपि उसका नाम विश्वरूप रखा था, किन्तु प्रायः सभी लोग उसे त्रिशिरा कहा करते थे और कालान्तर में वह विश्वरूप के साथ-साथ त्रिशिरा नाम से भी विख्यात हुआ।

विश्वरूप पर आरम्भ में अपने पिता के उत्तम संस्कारों की छाप थी। उसका बाल्यकाल बड़े सुख, सदाचार और सादगी के साथ बीता। किन्तु उसकी माता असुर कन्या थी जिसके कारण यदाकदा उस पर आसुरी संस्कारों की भी छाया पड़ जाती थी। परिणाम यह हुआ कि जहाँ पिता के भय से अथवा प्रभाव से वह देवताओं का हितैषी था वहीं अपनी माता के स्वभाव तथा आग्रह के कारण असुरों के प्रति भी उसके मन में कोई द्वेष नहीं था। किन्तु वह युग ऐसा था, जिसमें आये दिन देवताओं और असुरों के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती थी। दोनों जातियों में भीतरी मनोमालिन्य तो सदैव रहता ही था। कभी-कभी खुलकर युद्ध होता था, जिसमें कभी देवता विजयी होते थे तो कभी असुर। किन्तु अन्तर यह था कि जहाँ संसार भर में देवताओं के प्रति सब की श्रद्धा-आस्था रहती थी वहीं असुरों के प्रति सर्वत्र अकारण द्वेष और द्रोह का वातावरण मौजूद था। जब कभी युद्ध होता, दोनों पक्षों में से किसी की जीत होती और कोई पक्ष पराजित होकर रणभूमि से पलायन कर जाता।

प्रजापति त्वष्टा सच्चे हृदय से देवताओं के हितैषी थे अतः जब कभी देवताओं पर कोई विपदा आती थी तो वे चिन्तित हो उठते थे और किसी न किसी उपाय द्वारा वे देवताओं की सहायता भी किया करते थे।

किन्तु अपनी असुर-कुलोत्पन्न पत्नी की अप्रसन्नता के भय से प्रजापति त्वष्टा की यह देव-कल्याण-चिन्ता बहुधा चुपगुप होती थी, क्योंकि

पत्नी द्वारा असुरों पर भेद खुल जाने का भी उन्हें सदा भय बना रहता था। किशोरमति विश्वरूप पर अपने पिता माता के इस परस्पर विरोधी स्वभाव का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। वह पिता के सम्मुख देवताओं के कल्याण की चर्चा में भाग लेने के बाद जब कभी एकान्त में अपनी माता के पास किसी असुर की गुप्त चर्चा में भाग लेता तो वहाँ असुरों के कल्याण की बातों में भी उसी प्रकार का रस लेता जिससे असुरों को विश्वास हो जाता कि बड़ा होने पर विश्वरूप उन्हीं का कल्याणकारी होगा। असुर लोग उसे बड़े प्रेम की दृष्टि से देखते थे और अपना प्यारा भानजा कहकर पुकारते थे।

एक दिन किसी प्रसंग में प्रजापति त्वष्टा को जब इस बात की सूचना मिली कि विश्वरूप का आकर्षण असुरों की ओर भी है तो उन्होंने प्रत्यक्ष रीति से विश्वरूप को समझा-बुझाकर देवताओं के प्रमुखपुरोहित के पद पर नियुक्त करा दिया। उन्हें विश्वास था कि पुरोहित हो जाने पर विश्वरूप के हृदय में देवताओं के प्रति अनुराग में वृद्धि हो जायगी और तब असुरों के प्रति उसका आकर्षण धीरे धीरे कम हो जायगा। बात कुछ हुई भी ऐसी ही। देवताओं के पुरोहित के पद पर वरण होने के अनन्तर विश्वरूप का दिन प्रतिदिन का सम्पर्क देवताओं से अधिक होता गया और असुरों से मिलने-जुलने के अवसर कम होते गये। अब वह सदैव देवताओं के कल्याण की चिन्ता में रत रहने लगा, यद्यपि उसके अन्तर्मन में अपनी माता के सगे सम्बन्धी होने के कारण असुरों के प्रति कोई द्वेष या क्रोध नहीं था। वह प्रत्यक्ष रीति से देवताओं का समर्थक एवं पृष्ठपोषक तो बना ही भीतर-भीतर असुरों के प्रति अक्रोध तथा कल्याण की भावना भी उसमें रहने लगी।

कुछ दिन बीत जाने के बाद जब असुरों को यह ज्ञात हुआ कि उनका भानजा विश्वरूप देवताओं का पुरोहित बन गया है तो वे बड़े चिन्तित हुए। क्योंकि विश्वरूप को असुरों की बहुत सारी कमजोरियाँ पहले ही ज्ञात हो चुकी थी, जब वह अपनी माता के साथ असुरों की

गुप्त चर्चा में भाग लिया करता था। वे इस बात से अत्यन्त आशंकित हो उठे कि कहीं देवजाति का पौरोहित्य पाने के बाद विश्वरूप देवताओं की ओर से उनके विनाश के कार्यों में न लग जाय।

निराश असुरों ने हिरण्यकशिपु को साथ लेकर विश्वरूप की माता से उस अवसर पर भेंट की जब प्रजापति त्वष्टा तथा विश्वरूप इन दोनों में से कोई भी आश्रम पर नहीं था। हिरण्यकशिपु प्रभृति असुरों को अपनी शरण में आया देखकर विश्वरूप की माता को परम प्रसन्नता हुई और उसने अपनी शक्ति के अनुसार स्वागत-समादर के अनन्तर जब उनसे अपुने आश्रम में आगमन का कारण पूछा तो हिरण्यकशिपु ने कहा—

'बहिन ! तुम्हारा पुत्र विश्वरूप जब से देवताओं का पुरोहित बन गया है तब से हम सब को न तो दिन में सुख-शान्ति मिलती है और न रात को नींद आती है। वह प्रत्यक्षतः देवताओं के यज्ञों में भाग लेने लगा है। उसमें अद्भुत सामर्थ्य है। अपने तीनों शिरों से वह तीनों लोकों को हिला सकता है। इधर जब से वह देवताओं का पुरोहित बना है, तब से देवताओं की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और हम असुर गण बराबर क्षीण होते जा रहे हैं। तुम हमारी बहिन हो, तुम्हारे रहते हम सब का यह अकल्याण कैसे हो रहा है ?'

विश्वरूप की माता पर हिरण्यकशिपु एवं अन्य असुरों की प्रार्थना का गहरा प्रभाव पड़ा। उसने उन्हें आश्वस्त किया कि आप लोग अब से निश्चिन्त रहें। मैं जैसे भी संभव होगा, विश्वरूप को देवताओं के पौरोहित्य से अलग करके आपकी ओर मिलाकर ही चैन लूँगी।'

अन्ततः हुआ भी ऐसा ही। देवताओं के नन्दन-कानन में घूमते हुए विश्वरूप को एकान्त में पाकर उसकी माता ने समीप जाकर कहा—बेटा ! तुमने मुझसे बिना पूछे ही देवताओं का पौरोहित्य स्वीकार करके उचित कार्य नहीं किया है। असुर गण तुम्हारे मामा हैं। मेरे ही समान उनका भी तुम पर अधिकार है। देवताओं ने कभी भूलकर भी हम

लोगों का कोई अकारण उपकार नहीं किया है, मेरी आज्ञा है कि तुम देवताओं का पौरोहित्य त्याग दो और असुरों की सहायता करो।'

विश्वरूप अपनी माता की इस स्पष्ट आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सका। उसी क्षण देवताओं का पौरोहित्य त्यागकर असुरों के साथ रहने का आश्वासन देकर उसने अपनी माता को सम्मानपूर्वक विदा कर दिया और देवताओं को बिना सूचित किए ही असुरों की राजधानी की ओर प्रस्थान कर दिया।

हिरण्यकशिपु और अन्य असुरों को जब विश्वरूप के अपने पक्ष में आने का सुखद संवाद मिला तो वह परम प्रसन्न हुए और बड़े स्वागत-समादर के साथ भरी सभा में उसका अभिनन्दन कर के उसे अपना होता नियुक्त कर दिया। अब तक असुरों के यज्ञ-यागादि में ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठ होता बन रहे थे। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि असुरों ने बिना सूचना दिए ही उन्हें अपने होता पद के पृथक करके उनके स्थान पर विश्वरूप को होता बना लिया है तो उन्होंने हिरण्यकशिपु के विनाश का शाप दे दिया।

वसिष्ठ के शाप के कारण थोड़े ही दिनों बाद पुराणप्रख्यात नृसिंहावतार द्वारा हिरण्यकशिपु का जब समूल उच्छेद हो गया तो विश्वरूप को बड़ी चिन्ता हुई। अपने मातृपक्ष की वृद्धि के लिए उसने कठोर तपस्या आरम्भ की। तीनों तेजस्वी मुखों से जप करने के कारण विश्वरूप की तपस्या शीघ्र ही प्रचण्ड हो उठी और देवराज का सिंहासन हिल गया। उन्होंने विश्वरूप के व्रत को भंग करने में समर्थ अनेक ऐसी देवांगनाओं को उसके समीप भेजा, जिनके दर्शनमात्र से विश्वरूप का मन चंचल हो उठा। वह उन्हें पाने के लिए जब देवांगनाओं के समीप पहुँचा तो उन्होने बताया कि हम देवताओं को और विशेषकर देवराज इन्द्र को वरण कर चुकी हैं, अतः उनके सिवा कोई अन्य प्राणी हमें पाने की इच्छा नहीं कर सकता।'

तेजस्वी विश्वरूप को इससे धक्का लगा। उसने प्रतिज्ञा ग्रहण की

कि हम शीघ्र ही देवताओं समेत इन्द्र का विनाश कर तुम सब का वरण करेंगे। ऐसा कहकर वह पहले की अपेक्षा अत्यधिक निष्ठा से कठोर तप करने लगा। कुछ ही दिनों के बाद वह अपने प्रचण्ड तप के प्रभाव से अपने एक मुख से समस्त संसार के क्रियानिष्ठ ऋषियों-मुनियों एवं होताओं द्वारा यज्ञों में होमे गए सोमरस का पान करने लगा, दूसरे मुख से अपनी शारीरिक शक्ति के निमित्त साधारण अन्न-पानादि ग्रहण करने लगा और तीसरे मुख द्वारा इन्द्रादि देवताओं की निन्दा कर उनका तेजोवध करने लगा।

परिणामत: कुछ ही दिनों में इन्द्र को अनुभव होने लगा कि उनकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है और त्रैलोक्य में विश्वरूप का तेज अपनी अलौकिक आभा से उत्तरोत्तर वर्धमान होता जा रहा है। यज्ञ यागादि में देवताओं के उद्देश्य से जो सोमरस दिया जाता है, उसका सर्वथा विलोप होने लगा है और थोड़े ही अवसर में समस्त देवताओं का तेज न जाने कहाँ लुप्त होने लगा है।

फिर तो देवताओं समेत इन्द्र को विश्वरूप से इतनी घबराहट हुई कि वे तत्काल पितामह ब्रह्मा के पास पहुँचे और उनसे अपने सकुल विनाश की रक्षा का उपाय बताने की प्रार्थना करने लगे।

ब्रह्मा यद्यपि देवताओं और असुरों—दोनों जातियों के पूज्य पितामह थे तथापि क्रूरकर्मी असुरों की शक्ति को बहुत बढ़ने देना, उन्हें भी सह्य नहीं था और यज्ञ-यागादि प्रसंगों में सदा साथ रहने के कारण वह देवताओं के सहज हितैषी भी थे। अतः उन्होंने बड़े मधुर शब्दों में विश्वरूप के बढ़ते प्रभाव से आतंकित देवताओं समेत इन्द्र को आश्वासन देते हुए बताया कि 'इस विश्वरूप का विनाश किसी सामान्य शस्त्रास्त्र द्वारा संभव नहीं है, क्योंकि अपनी प्रचण्ड तपस्या एवं तेजस्विता के कारण वह सब प्रकार से अवध्य बन चुका है। अतः उसके विनाश के लिए यदि भृगुवंशीय महर्षि दधीचि की हड्डियाँ मिल सकें और

उनसे वज्र बनाया जा सके तो उसी के द्वारा विश्वरूप के तीनों शिरों का विनिपात सम्भव है। अन्यथा कथमपि नहीं।'

ब्रह्मा की प्रेरणा से प्रमुख देवताओं के साथ इन्द्र जब भृगु के वंशज महर्षि दधीचि के आश्रम में पहुँचे तो वे योगनिद्रा में निमग्न थे। महर्षि दधीचि का पार्थिव शरीर एक पर्वत के शिखर के समान भयंकर था। वे धरती पर अपनी अलौकिक आकृति के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध थे। जब वे बोलते थे तो मेघगर्जन के समान ध्वनि होती थी और जब चलते थे तो धरती हिलने लगती थी। किन्तु इस अलौकिक आकृति में महर्षि दधीचि को नवनीत के समान कोमल हृदय मिला था। अत्यन्त करुणा और सहानुभूति से भरी उनकी कमलदलायत आँखों में विधाता ने अपार स्नेह, करुणा और उदारता भर दी थी। वे सहसा प्राणिमात्र का दुःख नहीं देख पाते थे और कठोर वाणी, कठोर आचरण और कठोर व्यवहार को देख और सुनकर भी कभी विचलित नहीं होते थे। अतः जब इन्द्र समेत देवताओं ने अपने संकट की बात कहकर उनसे विश्वरूप त्रिशिरा जैसे आततायी के बधार्थ वज्र का निर्माण करने के लिए अस्थिदान की प्रार्थना की तो वे मुस्कराते हुए बोले—

'देवराज! मेरा शरीर आप लोगों के किसी काम में आ रहा है यह मेरे परम सौभाग्य की बात है।'

ऐसा कहकर पूर्ववत् उत्साह और स्नेह का भाव दिखाते हुए महर्षि दधीचि ने योग द्वारा अपने शरीर का त्याग कर के अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन कर दिया। और इस प्रकार क्षणभर पूर्व समूची धरती को अपनी अलौकिक आभा से चकित कर देने वाला उनका मोहक शरीर जब निर्जीव होकर नीचे गिर पड़ा तो देवताओं ने उनकी हड्डियों से ऐसे अभेद्य वज्र का निर्माण करवाया, जिसमें भगवान् विष्णु ने भी अपना तेज सन्निहित किया। फिर तो उसी वज्र के द्वारा देवराज ने तत्काल अनुपम तेजस्वी विश्वरूप का बध करके असुरों को विकम्पित कर दिया।

प्रजापति त्वष्टा को जब अपने प्यारे पुत्र विश्वरूप के वध का दुख दाई समाचार मिला तो वह अत्यन्त विचलित होकर रो उठे। जीवन भर देवताओं का हित चिन्तन करके भी वह अपने पुत्र के वध से इतने शोकातुर हुए कि देवताओं के विनाशार्थ उन्होने विश्वरूप के मृतक शरीर का मन्थन करके उससे उस वृत्रासुर को पैदा किया, जिसने अनेक वर्षों तक इन्द्र समेत समूची देव-जाति को ऐसा संत्रासित किया, जैसा विश्वरूप भी नहीं कर सका था। पुराणों में वृत्रासुर की क्रूर कथाओं का एवं उसके कारण आनेवाली देव-जाति की विपदा का रोमांचकारी वर्णन किया गया है।

महर्षि दधीचि का अस्थिदान

महर्षि भृगु के वंशज दधीचि का जब जन्म हुआ तो सारस्वत, (आधुनिक पंजाब) प्रदेश की धरती पर ही अपूर्व शुभ-शकुन नहीं हुए वरन् देवताओं को भी उनके मांगलिक भविष्य की सूचना मिली। सूर्य और चन्द्रमा की ज्योति बढ़ गई। सरिताओं में बाढ़-सी आ गई। वन में फूलों और फलों की तथा खेतों में अन्न की अपूर्व उपज बढ़ गई। मानवसमाज का दुःख-दैन्य कुछ दिनों के लिए दूर हो गया और पशु-पक्षी तथा कीट-पतंगादि ने भी मंगल मनाए।

दधीचि को बाल्य जीवन से ही अपूर्व शरीर मिला था। गज शावक की भाँति प्रबल-प्रचण्ड उनके अंगों की अलौकिक छवि देखकर सभी लोग चकित हो जाते थे। वे जिधर से निकलते थे उधर ही भीड़ लग जाती थी और जो कुछ बोलते थे उसे सुनने के लिए लोग लालायित हो उठते थे। दधीचि के अंग-प्रत्यंगों का विकास शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति इतनी शीघ्रता से हुआ कि उनके माता-पिता भी आश्चर्य में पड़ गए। किशोर वय को पार करते ही वह पर्वत शिखर के समान ऊँचे और विशाल बन गए। उनकी ऊँची भव्याकृति को देखकर बड़े बड़े लोग तो सहम जाते और बालक तथा स्त्रियों में आतंक छा जाता।

किन्तु चतुर विधाता ने दधीचि की उस भयंकर आकृति में अत्यन्त कोमल एवं मधुर स्वभाव का संयोग बिठाया था। वह इतने स्नेही और परदुःखकातर थे कि दुःखियों के प्रति सहज ही करुणार्द्र हो उठते थे और सब की अयाचित सहायता करना उनका स्वभाव सा बन गया था। पशु-पक्षी एवं कीट पतंगों के प्रति भी उनमें अद्भुत ममत्व था और मानव मात्र को अपने बन्धु-बान्धवों के समान आदर और स्नेह देना तो जैसे उनका व्रत था।

शरीर के समान ही अद्भुत प्रतिभा और बुद्धि भी दधीचि की संगिनी थी। उन्होंने अल्पकाल में ही सम्पूर्ण विद्याएँ अधिगत कीं और अपनी अपार विनयशीलता, परिश्रम तथा सेवापरायणता से गुरुजनों और सहाध्यायियों के अनन्य प्रेमपात्र बन गए। थोड़े ही दिनों में दधीचि की कीर्ति चतुर्दिक फैल गई और धरती पर ऐसा कोई ऋषि-मुनि नहीं रहा, जिसके मन में दधीचि के महान् एवं मोहक व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा न हो गई हो।

विद्याध्ययन के अनन्तर दधीचि ने गृहस्थाश्रम में जब प्रवेश किया तो अपने पूर्वज महर्षि भृगु की आज्ञा से उन्होंने कुरु-प्रदेश में बहने वाली सरस्वती नदी के उस पार एक मनोरम किन्तु विस्तृत भूखण्ड में अपना आश्रम बनाया। वह आश्रम यद्यपि गृहस्थी के काम में आने वाली वस्तुओं के अभावों से भरा था तथापि स्वल्प-सन्तोषी दधीचि को उसमें परम सुख मिलता था। उन्होंने उस एकान्त स्थल पर फलों और फूलों वाले अनेक वृक्षों की पंक्तियाँ लगाईं, लताओं और बल्लरियों के अनेक कुंज बनाए जिनमें वन्य पशु-पक्षियों का आवास हो सके। थोड़े ही दिनों में तपोनिरत दधीचि के मोहक व्यक्तित्व के प्रभाव से उनका वह सम्पूर्ण आश्रम मानों स्वर्ग की समृद्धियों से भर गया। विविध प्रकार के फलों और फूलों के वृक्षों तथा लताओं के घने कुंजों के बीच अनेक प्रकार के वन्य पशु-पक्षियों से आकीर्ण उस आश्रम में वह कठोर तपस्या में निरत रहने लगे और संसार के लोगों से उनका सम्पर्क मानों सदा के लिए छूट गया।

जब कभी दधीचि कठोर तपश्चर्या से विरत होते तो शरीर-रक्षा मात्र के लिए कन्द-मूल-फलादि ग्रहण कर अपने आश्रम के पशु-पक्षियों के बीच विहरण करते। कभी सिंह-शावकों को बुलाकर उन्हें अपने हाथों से फल-फूल खिलाते और कभी विशालकाय हाथियों की पीठ पर नन्हें-नन्हें मृग छौनों को बिठाकर आनन्द का अनुभव करते। कोई पक्षी यदि उनके जटाजूट में आकर अपने घोसलें की भाँति छिप जाने का

प्रयत्न करता तो दूसरा उनकी विशाल नासिका और भुजदण्डों पर वृक्ष की शाखाओं की भाँति फुदकने लगता। लताकुञ्जों में विहार करने वाले भ्रमर उनके कानों में मधुर ध्वनि करने के लिए उतावले हो जाते और फलदार वृक्षों और लताओं के समीप पहुँचने पर उनके लिए अपने आप फल-फूल नीचे गिर पड़ते। इस प्रकार जड़ और चेतन में अभेद दृष्टि रखने वाले दधीचि के आश्रम में थोड़े ही दिनों के बाद कोई अभाव जब नहीं रह गया तो वह अनन्य भाव से कठोर तपस्या में निरत रहने लगे।

दधीचि को धरती पर किसी भी प्राणी से यद्यपि कोई राग-द्वेष नहीं था तथापि धीरे-धीरे अपने आश्रमवासी जीव-जन्तुओं और लता-वृक्षों में आत्मीयता की अनन्य भावना के कारण उन्हें थोड़ी-बहुत आसक्ति अवश्य हो गई थी। किन्तु इसके कारण उनकी तपस्या में कोई अन्तराय नहीं आने पाता था। तपस्या के सभी कर्मों का उन्हें अभ्यास हो चुका था और दिन-रात जैसे तपस्या करने के सिवा उनके पास और कोई विशेष काम भी नहीं रह गया था।

× × ×

देवराज इन्द्र को धरती के निवासियों की तपस्या सदा संकट में डालने वाली बन जाती थी, क्योंकि उन्हें अपने तपस्या से प्राप्त महान् पद से च्युत हो जाने का भय सदा बना रहता था। अतः जब दधीचि की अखण्ड एवं कठोर तपस्या की उन्हें जानकारी हुई तो अपने दूतों द्वारा दधीचि को भौतिक सुख-साधनों का प्रलोभन देकर उन्होंने तपस्या के कठोर मार्ग से विरत होने का अनेक सन्देश भिजवाया। किन्तु दधीचि को धरती या स्वर्ग के किसी भी पदार्थ की कोई कामना नहीं थी और उन्होने सहजभाव से देवराज के सन्देशों को सदैव ठुकरा देना ही उचित समझा।

दधीचि के लोकविमोहक शरीर और व्यक्तित्व की चर्चा से वैसे भी देवराज भयभीत रहा करते थे, और इधर उनकी कठोर तपश्चर्या

को सुनकर तो जैसे उनकी निद्रा ही भंग हो गई। वे सदैव ऐसे उपायों को सोचने में परेशान रहने लगे जिससे दधीचि की तपस्या भंग हो सके। अपने दूतों के निराश हो जाने पर उन्होंने बड़े-बड़े ऋषियों और मुनियों को अपनी ओर मिलाना शुरू किया और उनके द्वारा भी दधीचि को अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए किन्तु दधीचि का जन्म सांसारिक सुख-साधनों का उपभोग करने के लिए नहीं हुआ था। उनकी पवित्र दृष्टि में इन क्षणिक सुखों की निस्सारता बहुत पहले ही प्रकट हो चुकी थी। उन्होंने देवराज को निर्भय रहने के लिए उन ऋषियों-मुनियों से स्पष्ट कह दिया कि—"मैं इन्द्र का पद नहीं चाहता क्योंकि मेरे इस आश्रम में मुझे जो अक्षय सुख-शान्ति और आनन्द मिलता है वह देवलोक या नन्दन कानन में कहीं भी देवराज को कभी नहीं मिल सकेगा। और भला मुझे इन्द्र का पद लेकर क्या करना है, जिसका विनाश कभी न कभी निश्चितप्राय है। मैं तो उस अक्षय पद को प्राप्त करना चाहता हूँ, जो देवराज इन्द्र के लिए भी दुर्लभ है।'

किन्तु महर्षि दधीचि के इन आश्वासनों पर देवराज इन्द्र को कभी विश्वास ही नहीं होता था। वे सोचते थे कि धरती पर आज तक कोई ऐसा तपस्वी नहीं हुआ जो इन्द्र के पद को ठुकरा सके। दधीचि का शरीर एवं व्यक्तित्व भी इस प्रकार का है कि जब वह एक बार इन्द्र का पद प्राप्त कर लेंगे तो अन्य इन्द्रों की भाँति उन्हें अपदस्थ करना सम्भव न होगा। अतः जब संदेशों से दधीचि की तपस्या खण्डित नहीं हुई तो इन्द्र ने देवलोक की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा अलम्बुषा को दधीचि का तप भंग करने का कार्य सौंपा।

सुन्दरी अलम्बुषा का चरित्र उसके अलौकिक सौन्दर्य एवं यौवन की भाँति ही निष्कलुष था। वह इन्द्रलोक की शोभा थी। अतः इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर उसने दधीचि की तपस्या को भंग करने का दुष्कर कार्य जब स्वीकार कर लिया तो उसे कोई चिन्ता नहीं हुई। दधीचि के अक्रोधी एवं दयालु स्वभाव की कथाएँ

वह पहले ही सुन चुकी थी अतः निर्भय एवं प्रसन्न चित्त से जब वह देवलोक से चलकर सरस्वती के पावन तट पर अवस्थित दधीचि के आश्रम में प्रविष्ट हुई तो वहाँ की अपार शोभा देखकर थिरक उठी। देवराज के नंदन कानन में पारिजात की सघन शीतल सुखदायिनी छाया और मोहक कुंजों को वह भूल गई। ऋतुराज वसंत की जो तरुणिमा उसे दधीचि के आश्रम में दिखाई पड़ी वह नंदन कानन से कई अंशों में अधिक थी। उसे सहसा यह विश्वास ही नहीं हुआ कि मर्त्यलोक के एक भूखण्ड में भी ऐसी अलौकिक प्राकृतिक छवि दिखाई पड़ सकती है।

उसने देखा चतुर्दिक सघन वृक्षों और लताओं की शाखाएँ पुष्पों और फलों के भार से अवनत हैं। विविध प्रकार के रंग-विरंगी पक्षियों के कलरव से आश्रम की धरती और आकाश में कोलाहल मचा हुआ हैं। कहीं भ्रमरों की पंक्तियाँ सामवेद का पाठ करने वाले ब्राह्मणों की भाँति अनवरत गूंज रही हैं तो कहीं पुंस्कोकिल की मनोरम पंचम ध्वनि से आश्रम की सजीवता में चार चांद लग गए हैं। अनेक प्रकार के हरिण भैंस, सुअर, बालमृग, और चमरी गौएँ अपने छोटे-बड़े शावकों के संग निर्भय होकर बाघों और सिंहों के साथ क्रीडारत हैं। कहीं पर मदस्रावी गजराजों और हथिनियों के क्रीडा-विलास से विशाल सरोवर के एक भाग की कमलिनियाँ अस्त-व्यस्त हो गई हैं तो दूसरी ओर हंस, सारसादि जल-पक्षियों के कल-कूजन से दूसरे भाग के रंग विरंगी कमलों की पंक्तियाँ अलम्बुषा को अपनी ओर बुलाती हुई प्रतीत हो रही हैं। आश्रम के लतागुल्मों, गह्वरों और गुफाओं में कहीं हृदय को विदीर्ण करने वाले सिंहों और व्याघ्रों की गर्जना सुनाई पड़ रही है तो उसी क्षण छोटे-छोटे मृगशावकों के साथ सिंह-शावकों की किलकारों से कानों को अतीव सुख भी मिल रहा है।

अलम्बुषा को स्वप्न में भी यह अनुमान नहीं था कि धरती पर अवस्थित महर्षि दधीचि का आश्रम देवराज के नन्दन कानन को भी लज्जित करने वाला है। वह बड़ी देर तक उनके आश्रम की शोभा

निरखने में ही स्वयं अपने को तथा अपने महान् कार्य को भुला बैठी। वह सोचने लगी कि जिस महान् व्यक्ति को इस धरती पर ही इतना सौख्य एवं समृद्धि सुलभ है वह अनेक संघर्षों से संकुलित देवराज के पद की अभिलाषा क्यों करेगा? बड़ी देर तक वह इसी उधेड़-बुन में लगी रही कि क्या करें और क्या न करें। किन्तु देवराज की आज्ञा का पालन तो उसे करना ही था। क्योंकि यहाँ आकर भी वह यदि दधीचि से भेंट न करती तो दुहरी हानि थी। देवराज तो अप्रसन्न होते ही दधीचि के देवदुर्लभ व्यक्तित्व का दर्शन करने से भी वह वंचित होती। आश्रम के सहज विरोधी जीवजन्तुओं की ऐसी अपूर्व सहचारिता को देखकर दधीचि के सम्बन्ध में उसे सुनी हुई पुरानी कथाएँ सत्य मालूम पड़ने लगीं, और दधीचि की ओर से वह सर्वथा निर्भय बन कर उनका टोह लगाते हुए आगे बढ़ी।

मनोहर सायंकाल था। निशा सुन्दरी की अगवानी में उस अवसर पर समूचा दधीचि का आश्रम अपनी अपूर्व सुन्दरता से परिपूर्ण था। पश्चिम का क्षितिज रक्तवर्ण का हो रहा था और महर्षि दधीचि पुण्य-सलिला सरस्वती में स्नान कर सूर्याभिमुख होकर देवताओं का तर्पण कर रहे थे। उनके विशाल वक्षस्थल और गौरवर्ण के प्रशस्त एवं तेजस्वी मुखमंडल पर अस्तोन्मुख भास्कर की किरणों की आभा विभासमान थी और उनके रक्त कमलदलायत नेत्रों में अपार करुणा और तेजस्विता थी। श्वेत गजराज के शुण्डा दण्ड की भांति उनकी प्रचण्ड भुजाएँ जब सरस्वती के जल में अंजलि बाँधती तो उसकी लहरें टूट कर भंवरों के रूप में बदल जातीं।

सरस्वती स्वल्पसलिला नदी थी। उसका प्रवाह अतीव वेगवान था। मध्यधारा में हिममण्डित शिखर की भाँति विशालकाय दधीचि के गौरवर्ण शरीर के समीप पहुँचकर सरस्वती का जो मोहक शब्द होता था वह निर्झर के कलकल निनाद की भाँति था। अलम्बुषा ने अपने जीवन में ऐसा मोहक व्यक्तित्व कहीं नहीं देखा था। एक से एक बढ़कर

तेजस्वी एवं मनोरम व्यक्तित्व वाले देवताओं को प्रतिदिन देखने को वह अभ्यासिनी थी किन्तु दधीचि के मोहक शरीर अनुपम सौन्दर्य एवं अंग-विन्यास को देखकर वह आत्मविस्मृत हो गई। वह समझ भी नहीं सकी कि विधाता द्वारा ऐसी मांगलिक एवं मोहिनी रचना इस धरती पर भी संभव है। फिर तो प्रयत्न करने पर भी वह अपने मन के वेग को रोक नहीं सकी और शीघ्र ही जल में हिलकर वहाँ पहुँच गई, जहाँ महर्षि दधीचि अपने तर्पण में ध्यानमग्न थे।

अलम्बुषा को देखकर महर्षि दधीचि को भी परम आश्चर्य हुआ। आज तक उनके उस परम एकान्त आश्रम में किसी नारी का कभी पदार्पण भी नहीं हुआ था। अतः थोड़ी देर तक तो वह निर्निमेष दृष्टि से अलम्बुषा की ओर परम उत्सुक और चकित होकर देखते रहे किन्तु थोड़ी ही देर में अलम्बुषा की अलौकिक सुन्दरता, सहज प्रेम, एवं चंचल भाव-भंगिमा के पाश में बंधने से वह अपने को बचा नहीं सके। देवराज इन्द्र की अभिलाषा पूरी हुई और महर्षि दधीचि का तप उनके बहुत प्रयत्नों के बाद भी खण्डित हो गया।

पुराणों में इस सन्दर्भ को बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। महाभारत का कथन है कि अलम्बुषा के मोहक दर्शन से महर्षि दधीचि का मन अत्यन्त विचलित हो गया और उनका वीर्य स्खलित होकर सरस्वती नदी की धारा में गिर पड़ा जिसे सरस्वती ने स्वयं अपनी कुक्षि में धारण किया, क्योंकि वह ऐसे परम तेजस्वी एवं महिमाशाली महर्षि के तेज को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहती थी।

समय आने पर सरस्वती के गर्भ से एक परम तेजस्वी पुत्र पैदा हुआ, जिसे लेकर वह दधीचि के आश्रम में गई और अनेक ऋषियों के समक्ष उन्हें सौंपती हुई, उसकी उत्पत्ति का कारण भी बताया। महर्षि दधीचि को पुत्र की प्राप्ति से परम प्रसन्नता हुई और उन्होंने उसको बड़े प्रेम से अपनी गोद में ले लिया। उस अलौकिक तेजस्वी और अद्भुत सुन्दर पुत्र को महर्षि दधीचि बड़ी देर तक अपनी छाती से चिपटाए

रहे और उसका मस्तक सूंघते रहे। उन्होंने अपने इस कार्य में सहायता देने वाली सरस्वती को अनेक आशीर्वाद दिए।

बहुत दिनों तक सरस्वती ने दधीचि के उस पुत्र सारस्वत का विधिवत् पालन-पोषण किया, जो कालान्तर में अपने पिता की भांति ही परम तेजस्वी, प्रतिभाशाली और वेद-शास्त्रों का पारगामी प्रकाण्ड पण्डित हुआ। उसका शरीर भी बहुत कुछ दधीचि से मिलता जुलता था। पुराणों का कहना है कि एक बार जब कुरुप्रदेश की धरती पर बारह वर्षों की अनवरत अनावृष्टि हुई और चतुर्दिक अकाल पड़ जाने के कारण बहुतेरे वेद-शास्त्रों के ज्ञाता ऋषियों-मुनियों का शरीरान्त हो गया तो दधीचि के पुत्र सारस्वत ने ही श्रेष्ठ ब्राह्मणों को फिर से वेदों और शास्त्रों का विधिवत् अध्यापन किया।

इस प्रकार अपने ही समान पुत्र की प्राप्ति से निश्चिन्त एवं कामना शून्य हृदय से महर्षि दधीचि की तपस्या उत्तरोत्तर अविरल होती गई और वे इतने तेजस्वी तथा महिमावान् बन गए कि देवता लोग भी उनका गुणगान करने लगे।

इसके बहुत दिनों पश्चात् एक बार देवताओं पर असुर सम्राट् वृत्र का क्रूर दमन चक्र चला। वृत्रासुर का तेज और पराक्रम अद्भुत था। वह ऐसा देवपीड़क था कि स्वप्न में भी देवताओं को चैन नहीं लेने देता था। देवराज इन्द्र तो उसका नाम सुनकर ही सशंक हो जाते थे। बताते हैं, वृत्रासुर को मारने में सक्षम इन्द्र के पास कोई ऐसा शस्त्रास्त्र नहीं था, जिसे वह क्षणभर में ही निष्फल न कर देता हो। ऐसा कोई बाण और ऐसी कोई शक्ति नहीं थी, जो उसके सामने जाते ही निष्फल होकर नीचे न गिर पड़ती हो। अन्ततः निराश देवताओं ने जब ब्रह्मा से वृत्रासुर को मारने के लिए किसी उपाय को बताने की करुण प्रार्थना की तो सुप्रसन्न ब्रह्मा ने उन्हें महर्षि दधीचि की अखण्ड तपस्या एवं मंत्रों से पवित्र हड्डियों द्वारा शस्त्रास्त्र बनाकर उनके द्वारा वृत्रासुर के वध की प्रेरणा की।

निराश एवं खिन्न देवताओं समेत देवराज इन्द्र की प्रार्थना जब दधीचि के कानों में पहुँची तो वे मुस्कराकर बोले—'देवराज! मैं तो समझता था इस संसार में मेरे शरीर की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। किन्तु मैं अपने को परम भाग्यशाली समझता हूँ, जो इस वृद्धावस्था में भी मेरा शरीर आप लोगों के किसी काम आ रहा है।'

फिर तो महर्षि दधीचि ने बिना किसी विषाद एवं चिन्ता के बड़ी प्रसन्नता के साथ योग बल द्वारा अपने प्राणों को छोड़ दिया और वे उस परब्रह्म में लीन हो गए, जिसकी प्राप्ति के लिए जीवन भर तपोरत रहे। देवताओं ने उनके निर्जीव शरीर से उनकी विशाल हड्डियों को निकालकर उनके द्वारा अनेक प्रकार के भीषण शस्त्रास्त्र बनवाए और उन्हीं गदा, बज्र, चक्र, परिघ, दण्डादि विविध दिव्यास्त्रों द्वारा बड़ी सुगमता से वृत्रासुर का समूल विध्वंस हो गया, जिससे देवताओं को चिरकाल के लिए सुख-शान्ति मिली।

इस प्रकार महर्षि दधीचि ने अपने जीवन भर और मृत्यु के अनन्तर भी धरती के निवासियों और स्वर्ग के देवताओं का महान् उपकार किया, जिसकी चर्चा पुराणों में बड़ी मार्मिकता एवं श्रद्धा से की गई है।

वेदों की रक्षा

यह तो बताया ही जा चुका है कि महर्षि दधीचि की कठोर तपस्या और त्रिभुवन विमोहक व्यक्तित्व से देवराज इन्द्र को बड़ी चिन्ता रहा करती थी। उन्होंने दधीचि की तपस्या को खण्डित करने के लिए देवलोक से अनुपम सुन्दरी अलम्बुषा नाम की जिस अप्सरा को दधीचि के आश्रम में भेजा था, उसने सचमुच दधीचि के तप को खण्डित कर दिया था। पुराणों का कहना है कि अलम्बुषा के विश्व विमोहक सौन्दर्य एवं अपार यौवन को देखकर महामुनि दधीचि का चित्त स्थिर नहीं रहा। वे उस समय सरस्वती नदी में खड़े होकर स्नान के अनन्तर देवताओं और ऋषियों का तर्पण कर रहे थे। उनके परम सौम्य स्वभाव एवं परदुःखकातरता की चर्चा से अलम्बुषा अत्यन्त निर्भय बन चुकी थी। अतः उसे महामुनि के नितान्त समीप जाने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ। परिणामतः दधीचि का वीर्य सरस्वती की धारा में गिर पड़ा जिसे सरस्वती ने गर्भ रूप में धारण कर लिया।

यथासमय पुण्यसलिला सरस्वती के गर्भ से दधीचि के समान ही एक परम सुन्दर एवं सहज आकर्षक पुत्र जब पैदा हुआ तो सरस्वती ने मुनियों की भरी सभा में ले जाकर उसे दधीचि को सौंप दिया। महामुनि दधीचि आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत स्वीकार कर चुके थे, अतः इस पुत्रोत्पत्ति की प्रकट चर्चा से उन्हें लोकलज्जा का अनुभव तो कुछ अवश्य हुआ किन्तु अपने पुत्र की मोहक सुन्दरता एवं चपलता देखकर वह अपने को सम्हाल नहीं सके और पुत्र को अपनी गोंद में लेकर बड़ी देर तक उसे अपनी छाती से चिपकाए रहे। पुत्र का तेजस्वी मुखमण्डल अरुणोदय के भास्कर की भाँति देदीप्यमान था, और जब वह मुस्कराता था तो मानों धरती एवं आकाश में सर्वत्र प्रसन्नता बिखर

जाती थी। उसके पद्मदलाक्ष नेत्रों में चंचलता के साथ ही असीम भोलापन था, अतः अपने निर्निमेष नेत्रों से उसे बड़ी देर तक निहारते हुए दधीचि ने बारम्बार उसका मुख चूमा। उस समय दधीचि की दशा देखने योग्य थी। मुनियों ने देखा कि परम विरक्त दधीचि उस सुन्दर एवं सलोने बालक की रूप राशि पर अपनी समस्त विद्या-बुद्धि एवं चिरकाल से अर्जित तपोराशि निछावर कर चुके हैं। उन्हें अपने तन मन एवं मर्यादा-प्रतिष्ठा का भी ध्यान नहीं रह गया है। वे बारम्बार उसका सिर सूंघ रहे हैं और पुलकित शरीर तथा साश्रुनेत्रों से उसके मुखकमल एवं ललाट का चुम्बन ले रहे हैं।

इस प्रकार मुनियों की भरी सभा में कुछ काल तक अपनी औरस सन्तान का स्वर्ग-दुर्लभ सुख भोगने के अनन्तर महामुनि दधीचि को जब अपनी वास्तविक स्थिति की अनुभूति हुई तो वे किंचित् लज्जित भी हुए। क्योंकि ऋषियों मुनियों के समुदाय में उनकी इस अप्रत्याशित चेष्टा से कुछ काना-फूसी होने लगी थी। किन्तु अपने लोक विमोहक पुत्र एवं पत्नी की उपस्थिति तथा ममता के मोह-पाश को काट फेंकना उनके वश में नहीं था। फिर भी वे एक महामुनि थे और जीवन भर उसी रूप में बने रहना भी चाहते थे। अतः निर्विकार नेत्रों से सरस्वती की ओर देखते हुए बोले—

'सुन्दरि! तुमने इस बालक को गर्भ में धारण कर मुझे पितरों के महान् ऋण से अनायास ही मुक्त कर दिया है। तुम्हारे गर्भ में रहने के कारण यह अत्यन्त तेजस्वी बालक भविष्य में आर्यजाति के जीवन को अपनी ज्ञान एवं तपोराशि से समृद्ध करेगा और दुष्काल में वेदों और शास्त्रों की रक्षा करके भारतभूमि का उद्धारक होगा। महाभाग्यशालिनि! तुम सदा से हमारे देश के ऋषियों-मुनियों के जीवन की रक्षक रही हो और मैं भी इतने दिनों से तुम्हारी अटूट सेवा और श्रद्धा का भाजन रहा हूँ, अतः मेरे प्रसाद से तुम भविष्य में अन्य नदियों की अपेक्षा

सदैव अधिक महिमामयी बनी रहोगी। तुम्हारे जल से तर्पण करने पर विश्वेदेव, पितरगण एवं गन्धर्वादि सभी अक्षय तृप्ति का लाभ करेंगे।'

मुनियों की भरी सभा में सरस्वती का यह अभिनन्दन अकेले महामुनि दधीचि ने ही नहीं किया। अन्यान्य ऋषियों मुनियों ने भी उसके गुणों की प्रशंसा करते हुए उसके होनहार पुत्र का भी अभिनन्दन किया और समवेत रूप से आशीर्वाद दिया कि—'उसका यह पुत्र कालान्तर में सभी ब्राह्मणों को वेद पढ़ाएगा और अपनी अनुपम प्रतिभा एवं तपस्या से आर्यजाति का अनन्य रक्षक होगा।'

महर्षि दधीचि स्वयं तो अपने सद्योजात पुत्र का पालन-पोषण कर नहीं सकते थे। अतः उन्होंने अपने पुत्र को पुनः सरस्वती को सौंप दिया और भविष्य के लिए उसके विधिवत् पालन-पोषण की प्रार्थना की।

महर्षि दधीचि से जनमे सरस्वती के उस तेजस्वी पुत्र का नाम सारस्वत रखा गया और मुनियों के आशीर्वाद के अनुसार वह थोड़े ही दिनों में अपने पिता दधीचि के समान ही परम तेजस्वी, प्रतिभावान् सर्वांगसुन्दर और आकर्षक बन गया। वेदों और शास्त्रों की सभी विद्याएँ उसने थोड़े ही समय में अधिगत कर लीं और अपनी अप्रतिम प्रतिभा, चातुरी तथा सरलता से वह चराचर का मन मोहने लगा। जैसा मनोहर उसका स्वरूप और स्वभाव था वैसी ही मोहक और सद्यः प्रभाव डालने वाली उसकी मधुर वाणी भी थी। जब वह सामवेद का सस्वर पाठ करने [illegible] तो पशु-पक्षी भी स्थिर हो जाते थे और वायु तथा जल के [illegible]के [illegible]ी उसका प्रभाव लक्षित होने लगता था। उसके हृदय में अपार [illegible] करुणा और सहानुभूति थी। और अपने पिता दधीचि के समान वह भी दूसरों की सहायता के लिए सदैव तत्पर रहता था। परिश्रमी तो वह इतना था कि वज्र के समान प्रबल और कुसुम के समान कमनीय उसके गौरवर्ण की काया पर छलकते हुए श्रम-सीकरों की छवि सदैव सब का मन मोह लेती थी। अपने पिता के आश्रम में लगे हुए वृक्षों और लताओं में वह अपने हाथों से थाल्हे बनाकर पानी डालता

था, उनकी गुड़ाई करता था। उनकी सुखी हुई शाखाओं और टहनियों को प्राणवान बनाने की औषधियाँ लगाता था और नए-नए वृक्षों और लताओं के लगाने का भी अवसर निकालता था। अपने स्वाध्याय और तपस्या से जो कुछ भी समय वह बचा पाता, उसका सदुपयोग आश्रम की श्री-समृद्धि के विस्तार के लिए करता था और आश्रमवासी पशुओं और पक्षियों के कल्याण की विविध चेष्टाएँ करता रहता था।

सरस्वती के पावन तट पर मनोहर अरण्यानी के बीच अपने पिता दधीचि के आश्रम के एक भाग में उसने अपने लिए एक उटज बना लिया था, किन्तु दिन-रात के बीच उसको अपने जप-तप, पूजा-पाठ, अध्ययन और आश्रम सम्बन्धी कार्यों से इतना कम समय बच पाता था जब वह विश्राम या शयन करता था। प्रमाद या आलस्य तो उसे स्पर्श भी नहीं कर सका था और संसार के अन्य प्रपंचों के लिए उसके पास न तो समय था न सुविधा थी। दधीचि के आश्रमवासी मुनियों के संग भी वह जप-तप एवं शास्त्रों की ही चर्चा करता और जब कभी समय निकाल पाता अपने पिता एवं माता के आदेशों और निर्देशों के अनुसार अपना जीवन-क्रम निश्चित करता। कभी पक्षियों के बच्चों के लिए नीवार की अधपकी बालियाँ तोड़कर लाता और कभी मृगछौनों के मुखों में हरी कोमल दूबों का कवल डालता।

इस प्रकार सारस्वत का नवयौवन जब बड़े सुख, उल्लास और आनन्द के साथ बीत रहा था कि इसी अवधि में देवताओं समेत इन्द्र की प्रार्थना पर महर्षि दधीचि को अपना शरीर छोड़ देना पड़ा। उनके विशाल एवं तपोमयता के कारण अविच्छेद्य अस्थियों की आवश्यकता आततायी वृत्रासुर और उसके अनुयायी राक्षसों के वध के लिए थी। अतः जब अपनी ही इच्छा से महामुनि दधीचि का शरीरान्त हो गया तो स्वभावतः सारस्वत के जीवन में थोड़े दिनों के लिए बड़ी निराशा व्याप्त हो गई। उसके पिता महर्षि दधीचि का शरीर अभी इतना वृद्ध नहीं हुआ था और अभी अनेक वर्षों तक वह अपनी तपस्या एवं साधना

से धरती के जीवन को महिमान्वित कर सकते थे। किन्तु विधाता की रचना को अन्यथा करने की शक्ति किसमें थी। दधीचि की अनुपस्थिति में उनके विशाल आश्रम का भार सारस्वत के ऊपर पड़ा और उसने अपनी माता के परामर्श से उसका विधिवत् संचालन शुरू किया।

संयोग की बात। महर्षि दधीचि के देहावसान के कुछ ही वर्षों बाद कुरु प्रदेश में भयंकर अनावृष्टि हुई। एक-दो वर्षों तक तो जनता यह आशा बाँधकर किसी प्रकार अपना जीवन यापन करती रही कि अगली वर्षा ऋतु में वृष्टि अवश्य होगी, किन्तु जब इसी प्रकार तीन-चार वर्ष बीत गए और वृष्टि नहीं हुई तो बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों का भी धैर्य टूट गया। प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु के आरम्भ होने पर काले बादलों की घटाओं के साथ पश्चिम की ओर से ऐसी तीव्र हवा का बहना शुरू हो जाता कि दो चार दिन के भीतर ही सारे बादल छिन्न-भिन्न होकर अन्य दिशाओं में चले जाते और कुरु प्रदेश में एक बूंद जल भी न गिरता। पश्चिम की यह तीव्र हवा पूरी वर्षा ऋतु भर बहती रहती जिसके कारण बादलों का आना जाना तो लगा रहता किन्तु थोड़ी वृष्टि भी कभी नहीं होती। परिणाम भयंकर हुआ। नदियों और सरोवरों में धूल उड़ने लगी, बड़े बड़े वन, उपवन और बाग-बगीचों की वृक्ष-वनस्पतियाँ सूख गईं। खेती और वाणिज्य-व्यवसाय बन्द हो गया। और इस भयंकर दुष्काल में समूचा कुरु प्रदेश इस प्रकार जलने लगा कि देव भी रक्षा नहीं कर सके। चतुर्दिक भुखमरी के कारण हाहाकार मच गया और कुरु प्रदेश की जनता अपना घरबार छोड़कर देश के अन्य भागों की ओर सहस्रों की संख्या में भागने लगी।

वृद्धों, अबलाओं और बालकों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। एक एक ग्रास भोजन के लिए पिता और पुत्र के प्रिय सम्बन्ध टूट गए। स्त्री और पुरुष के स्नेह-तन्तु झटक उठे। युवा पुत्र अपने वृद्ध माता पिता को असहाय छोड़कर भागने को तैयार हो गए और छोटे छोटे निराश्रित

बच्चों को बुभुक्षा अथवा बन के हिंस्र जन्तुओं का ग्रास होना पड़ा। उस भयंकर अकाल ने मानवता को ऐसा धक्का दिया कि अपनी विद्वत्ता, तपस्या, साधना, और धीरता के लिए विख्यात ऋषियों-मुनियों का विवेक भी छूट गया। कुरु-प्रदेश उस समय समूचे भारतवर्ष की साधना और संस्कृति का प्रेरक स्थल था। बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों के पवित्र आश्रम वहीं थे, कृषि और वाणिज्य-व्यवसाय के अधिकांश केन्द्र वहीं थे; किन्तु इस दीर्घकालव्यापी अकाल ने उस प्रदेश को ऐसा ध्वस्त किया कि वहाँ की सारी श्री समृद्धि जैसे सदा के लिए विलीन हो गई। धरती और स्वर्ग के समस्त सुख-साधनों के सोपान-निर्माता वे मुनियों के आश्रम अपने समीपवर्ती वनों, उपवनों, सरोवरों और नदियों के साथ उजड़ गए। अपनी मादकता भरी वाणी और केलियों से जन-मन को मोहने वाले पक्षियों का कलरव बंद हो गया। मृग-छौनों का क्रीडा-विहार समाप्त हो गया। इस प्रकार कुरु प्रदेश की अपार धन जन की हानि के कारण समूचा भारतवर्ष काँप गया और सर्वत्र गम्भीर आतंक छा गया।

अन्ततः कुरु की इस भयावनी अनावृष्टि पर विचार कर जब ज्योतिषियों ने बताया कि यह अनावृष्टि बारह वर्षों तक चलती रहेगी तो वहाँ रहने वाले बड़े-बड़े योगी और ध्यानी भी कांप उठे। अत्यन्त भूख और प्यास से पीड़ित ऋषि मुनि भी दिशाओं-दिशाओं में दौड़ने लगे। उनका जप-तप छूट गया और वे भी सामान्य जनता की भाँति अन्न-जल की तलाश में दिन-रात असह्य कष्ट उठाने लगे।

इस प्रकार सम्पूर्ण कुरु-प्रदेश के उजाड़ हो जाने पर और बड़े बड़े ऋषियों-मुनियों के वहाँ से चले जाने पर महर्षि दधीचि के पुत्र सारस्वत का भी साहस छूट गया। अब तक वह बड़े धैर्य के साथ किसी प्रकार अपने आश्रम का संचालन कर रहे थे और उनकी माता सरस्वती का सहयोग भी उन्हें सदैव प्राप्त होता था, किन्तु अपने से अधिक विद्वान् साधक और तपस्वी ऋषियों की दुर्दशा देखकर वह भी

अपना आश्रम छोड़कर सुदूर दक्षिण दिशा को जाने के लिए तैयार हो गए और अपने इस निश्चय की बात उन्होंने अपनी माता सरस्वती से भी एकान्त में बता दी।

सरस्वती को अपने पुत्र का यह निश्चय सुनकर स्वभावतः बड़ा खेद हुआ और उन्होंने सारस्वत को एकान्त में समझाते हुए कहा— 'वत्स! तुम अपने आराध्य पिता के इस पवित्र आश्रम को छोड़कर कहीं मत जाओ। यद्यपि यह सत्य है कि समूचे कुरु-प्रदेश में खाने पीने की वस्तुओं का सर्वथा अभाव हो गया है तथापि मैं तुम्हारे शरीर की रक्षा का कोई न कोई उपाय अवश्य करूँगी। मैं तुम्हारे भोजन के लिए प्रतिदिन उत्तमोत्तम मछलियाँ दूँगी और जल की भी व्यवस्था करूँगी। अतः इसे आपद्धर्म समझ कर तुम वेदों की रक्षा एवं अपने पिता के इस पुण्याश्रम की मर्यादा के लिए यहीं बने रहो, कहीं अन्यत्र मत जाओ।'

सारस्वत ने अपनी माता की आज्ञा स्वीकार कर ली और अपने पिता के पुण्याश्रम में रहकर उस भयंकर अकाल की दीर्घ अवधि में भी अपने शरीर के साथ वेदों की रक्षा करते हुए प्रतिदिन देवताओं और पितरों को भी तृप्त किया। वह अपने जीवन-क्रम में कभी विस्खलित नहीं हुए और उनकी वेद-वेदांगों की सम्पूर्ण ज्ञानराशि पूर्ववत जाग्रत और चमत्कृत रही जब कि इधर बारह वर्ष की दीर्घ अवधि के भयंकर अकाल में बड़े बड़े ऋषियों का धर्म-कर्म छूट गया था, कितने अकाल के गाल में चले गए थे। जो जीवित बचे थे उनका भी स्वाध्याय एवं जप-तप खण्डित हो गया था। अतः उनके अन्तःकरण एवं स्मृतिपथ से वेद-वेदांगों का प्रायः तिरोधान हो चुका था।

अन्ततः जब अकाल किसी प्रकार समाप्त हुआ और देश में पुनः सुभिक्ष का उदय हुआ तो जीवित बचे हुए ऋषिगण अपने में ही एक दूसरे से स्वाध्याय की चर्चा करने लगे। किन्तु अपनी विद्वता के लिए विख्यात बड़े-बड़े ऋषियों को भी वेदांगों की परिपाटी बहुत कुछ विस्मृत

हो चली थी। भूख-प्यास से विह्वल होकर रात दिन दौड़ने वाले उन ऋषियों में से ऐसा एक भी नहीं बचा था, जिसे वेदों शास्त्रों का पूर्ण स्मरण रहता।

वेदों की परम्परा एवं परिपाटी के इस विनाश से ऋषियों की चिन्ता जब बहुत बढ़ गई तो संयोग से एक दिन एक ऋषि घूमते-फिरते प्रति दिन स्वाध्याय में निरत रहने वाले शुद्धात्मा सारस्वत मुनि के आश्रम में पहुँच गये, जो इस संकट में भी अपने आश्रम को छोड़कर कहीं गए नहीं थे। वहाँ उन्होंने बड़े आश्चर्य से देखा कि मुनिवर सारस्वत की दिनचर्या यथापूर्व है। उनका जप, तप, स्वाध्याय श्राद्ध एवं तर्पण सब कुछ पहले जैसा ही चल रहा है। वहाँ से लौटकर उन्होंने शेष ऋषियों को जब यह सूचना दी कि सरस्वती नदी के तट पर एक विविक्त आश्रम में देवताओं के समान अद्वितीय सुन्दर दधीचि मुनि के पुत्र सारस्वत मुनि को समग्र वेद-वेदांग कण्ठाग्र हैं और वे अब भी अपने आश्रम में अपना स्वाध्याय एवं जप-तप करते हैं तो सब को परम प्रसन्नता और सन्तोष हुआ। वे समूह में सारस्वत मुनि के समीप पहुँचकर उनका विधिवत अभिनन्दन करते हुए बोले—

'महामुने ! आपने इस महान संकट के अवसर पर वेद-वेदांगों की रक्षा कर के धरती का बड़ा उपकार किया है। हम लोग तो भूख प्यास से पीड़ित होने के कारण इस अकाल में न केवल अपने धर्म कर्म को ही भुला बैठे हैं वरन् वेद-वेदांगों को भी प्रायः विस्मृत कर चुके हैं अतः आपकी विशेष कृपा होगी यदि हम सबको आप वेदों का पुनः पूर्ववत् ज्ञान करा दें।'

सारस्वत बोले—'मुनिवृन्द ! पहले आप लोग सविधि हमारी शिष्यता ग्रहण करें तदनन्तर हम आप सब को वेद-वेदांगों की शिक्षा देंगे !'

ऋषियों-मुनियों के उस समूह में कुछ बहुत वृद्धावस्था के ऋषि-मुनि थे। अतः उन्हें सारस्वत मुनि का यह कथन प्रिय नहीं लगा। विवशता के कारण अपने हृदय के असन्तोष को दबाते हुए वे बोले—

'बेटा ! तुम तो अभी हमारे पुत्रों की अवस्था से भी उम्र में छोटे हो। अतः हम तुम्हारी शिष्यता कैसे स्वीकार कर सकते हैं। इसमें तो न केवल हमारा ही अपमान है, वरन् तुम्हें भी प्रायश्चित्त करना होगा। क्योंकि,तुम्हारे पिता महर्षि दधीचि के साथ हमारा भ्रातृवत् सम्बन्ध चलता था।'

सारस्वत बोले—'मुनिवृन्द ! केवल अवस्था अधिक हो जाने से, बाल पक जाने से, दांत टूट जाने से, अधिक धन होने से अथवा पुत्र-पौत्रादि एवं भाई-बन्धु की अधिकता से कोई गुरु (बड़ा) नहीं बन जाता। हमारे ऋषि समाज में तो जो वेदों का प्रवचन कर सके वही महान् है। हमारे बीच में सनातन से यही परम्परा प्रचलित रही है और मैं भी उसी को चलाना चाहता हूँ।

दूसरी बात यह भी है कि यदि विधिपूर्वक शिष्य बनाए बिना ही मैं आप सब को वेदों का अध्यापन करूँ तो मेरा और आप सबका धर्म नष्ट हो जायगा, क्योंकि शास्त्रों की आज्ञा है कि जो अधर्मपूर्वक वेदों का प्रवचन करता है तथा जो अधर्मपूर्वक वेदमंत्रों को ग्रहण करता है, वे दोनों शीघ्र ही हीनावस्था को प्राप्त होते हैं अथवा दोनों एक-दूसरे के वैरी हो जाते हैं। अतः 'मेरी विवशता है कि मैं आप सब को शिष्य बनाए बिना वेदों का अध्यापन नहीं करूँगा।'

सारस्वत के इस स्पष्ट कथन से समस्त ऋषि समुदाय निरुत्तर हो गया और तदनन्तर विवश होकर साठ सहस्र ऋषियों ने सरस्वती नदी के पावन तट पर मुनिवर सारस्वत की शिष्यता स्वीकार कर वेद-वेदांगों का विधिवत अध्ययन किया। उन साठ सहस्र ऋषियों में ऐसे बहुत कम ऋषि थे जो सारस्वत से अवस्था में छोटे हों। प्रायः सभी उनसे बड़ी उम्र के थे, किन्तु फिर भी शिष्य होने के नाते वे सब सारस्वत के आसन के लिए एक-एक मुट्ठी कुश ले आया करते थे। इस प्रकार बहुत थोड़े ही दिनों में उन समस्त ऋषियों ने सारस्वत से

पुनः वेद-वेदांगों का सविधि अध्ययन किया और पूर्व संस्कार के कारण उनकी यह विद्या यथाशीघ्र ही फलवती होकर सम्पूर्ण देश में फैल गई।

पुराणों का कहना है कि इस प्रकार महर्षि दधीचि के पुत्र महामुनि सारस्वत ने उस भयंकर अकाल में साहसपूर्वक वेद-वेदांगों की रक्षा यदि न की होती तो सारा संसार ज्ञान की इस महान् निधि से आज वंचित रहता और धर्म-कर्म, जप तप, यज्ञ-हवन एवं स्वाहा-स्वधा की पावन वैदिक परिपाटी सदा के लिए विस्मृति के गर्भ में चली गई होती।

राजा सोमक और ऋत्विक

प्राचीन काल में सोमक नामक एक राजा को सौ रानियाँ थीं, किन्तु दुर्भाग्यवश राजा को बहुत दिनों तक कोई सन्तान नहीं पैदा हुई। उनकी रानियाँ गुण और रूप में एक से एक बढ़कर थीं। राजा भी अत्यन्त स्वरूपवान, नीतिज्ञ तथा धर्मपरायण था, किन्तु अनेक यज्ञ-दानादि करने पर भी जब कोई सन्तान नहीं प्राप्त हुई और राजा के साथ रानियों की भी युवावस्था बीतने लगी तो राजा को स्वभावतः बड़ी चिन्ता हुई। उसने अपने चतुर मंत्रियों को बुलाकर अपने मनकी व्यथा जब प्रकट की तो महामात्य के प्रयत्नों से वृद्धावस्था में किसी रानी के गर्भ से उसे एक पुत्र पैदा हुआ।

पुत्रोत्पत्ति से राजा सोमक को परम प्रसन्नता हुई। उसके रनिवास में अपार हर्ष मनाया गया। उसकी निराश प्रजा ने भी राजा के इस हर्ष में खुल कर भाग लिया और कई दिनों तक आमोद-प्रमोद के विविध आयोजन रचे गए। राजा ने अपने पुत्र का नाम जन्तु इसलिए रखा कि वह दीर्घजीवी हो, क्योंकि लौकिक प्रथा के अनुसार ऐसा विश्वास किया जाता है कि बुरा नाम रखने से बालक दीर्घजीवी होता है।

राजा सोमक की सौ रानियाँ अपने एकलौते बेटे जन्तु पर प्राण देती थीं। अनेक दास-दासियों के रहते हुए भी सदैव उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगी रहतीं और क्षणभर के लिए अपनी आँखों के सामने से अलग न होने देतीं। कभी कभी तो वे उस बालक को गोंद में लेने के लिए परस्पर ईर्ष्या करने लगतीं और जिस रानी की गोंद में क्षणभर के लिए भी वह बालक आ जाता वह अपने को सौभाग्यशालिनी मानती। संक्षेप यह कि उन सौ रानियों में से सभी जन्तु को अपना सगा पुत्र समझतीं और उसके लिए अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार रहतीं। जब

तक जन्तु जागता रहता उसे प्रसन्न रखने का विविध आयोजन करतीं और जब वह सो जाता तो उसे चारों ओर से घेर कर बैठ जातीं।

इस प्रकार राजा सोमक का अन्तःपुर उस एकाकी पुत्र के कारण अत्यन्त आनन्द और उल्लास से परिपूर्ण था कि एक दिन संयोगात पर्यंक पर सुख से सोते हुए बालक जन्तु के कटिभाग में न जाने कहाँ से आकर एक चींटी ने काट लिया। अत्यन्त प्यार से पले हुए राजकुमार का कोमल शरीर पीड़ा से तड़प उठा और गहरी निद्रा में निमग्न बालक असह्य पीड़ा के कारण चीत्कार करते हुए उठ बैठा और छटपटाते हुए मुंह बना बना कर अत्यन्त करुण स्वर में रुदन करने लगा।

राजा सोमक की रानियाँ अत्यन्त प्यार के कारण अपने उस एकलौते बेटे के सम्बन्ध में सदैव सशंक रहती थीं, अतः जब उन्होंने इस प्रकार बालक को छटपटाते और रोते देखा तो वे सब भी उच्च स्वर से रोने लगीं और क्षण भर में ही सारा रनिवास करुणक्रन्दन की गूंज से भर गया। रानियों को देखकर उनकी दासियाँ तो और जोर से चिल्लाने लगीं। बिजली की गति के समान तत्काल इस करुणक्रन्दन की गूंज जब राजा सोमक के कानों में पड़ी तो महान् अनिष्ट की आशंका से वह विचलित हो उठा। राजा उस समय अपने सामन्तों और अमात्यों के साथ किसी गम्भीर विषय पर विचार-विमर्श कर रहा था, किन्तु अन्तःपुर के कोलाहल से वह सभा तत्काल भंग कर दी गई और राजा ने तत्काल द्वारपाल को बुलाकर इस रुदन का पता लगाने के लिए भेजा। द्वारपाल ने तुरन्त वापस लौटकर अन्तःपुर में राजकुमार और रानियों के रोने की बात बताई। फिर तो सभी लोग तीव्र गति से उसी ओर दौड़ पड़े जिधर से रोने-पीटने की आवाज आ रही थी।

किन्तु उधर रानियों ने जब देखा कि बालक के पर्यंक पर एक चींटी घूम रही है तो उन्होंने उसे उठाकर दूर फेंक दिया और बालक के उस कोमल स्थान को सहलाना शुरु कर दिया जिससे वह तुरन्त चुप

हो कर मुस्कराने लगा। इसी बीच में अपने पारिषदों समेत राजा ने जब अन्तःपुर में प्रवेश किया तो सभी रानियों ने बड़े कारुणिक ढंग से राजकुमार के चिल्लाने का वृत्तान्त कह सुनाया और शरीर का वह भाग जो अब भी अत्यन्त रक्तवर्ण का हो गया था, दिखाते हुए राजकुमार जन्तु के अरिष्टों की शान्ति का उपाय करने का अनुरोध किया। राजा सोमक ने पुत्र को अपनी गोद में लेकर उसे आश्वस्त किया और थोड़ी देर बाद रानियों को प्रबोधन देकर वह पुनः अपने मंत्रणा-गृह की ओर वापस चल पड़ा।

अन्तःपुर के बाहर मंत्रियों और पारिषदों की भीड़ राजा की प्रतीक्षा कर रही थी। राजा ने सब को आश्वस्त कर विश्वस्त मंत्रियों और पुरोहित वर्ग के साथ एकान्त में मंत्रणा आरम्भ करते हुए कहा—'इस संसार में किसी पुरुष के एक ही पुत्र का होना भी धिक्कार का विषय है। एक पुत्र होने की अपेक्षा तो पुत्रहीन रह जाना ही अच्छा है, क्योंकि समूचा परिवार एक ही पुत्र होने के कारण सदैव चिन्ता में निमग्न रहता है और मामूली-सी घटना हो जाने पर हमारे अन्तःपुर की तरह व्याकुल हो जाता है। भला बताइए, एक मामूली सी चींटी के काटने पर इतना बड़ा हंगामा मच गया। अतः मैं तो एक पुत्र का होना अत्यन्त शोक का विषय मानता हूँ।'

संयोग की बात राजा के मंत्रणागृह में उस समय उनका प्रधान ऋत्विक अपने एक ऐसे सम्बन्धी के साथ उपस्थित था, जो तांत्रिक क्रिया-कलापों का आचार्य था। अनेक वर्षों तक तंत्र विद्या की साधना कर वह सिद्धि प्राप्त कर चुका था और उसकी विद्या का चमत्कार दिखाने के लिए ही मंत्रणागृह में उसे आमंत्रित किया गया था। राजा की यह विषाद भरी वाणी सुनकर वह ऋत्विक का सम्बन्धी तत्काल बोला—

'महाराज! आप का कथन सर्वथा सत्य है। सचमुच इस संसार में एक पुत्र वाले पुरुष का जीवन सदैव शंकाकुल रहता है।'

राजा सोमक ने कहा—'ब्रह्मन्! मैंने अनेक पुत्रों की इच्छा से ही भलीभाँति जान बूझकर सौ रानियां से विवाह किया था, किन्तु इस अवस्था तक उन सबको कोई सन्तान नहीं हुई। यद्यपि मेरी सभी रानियाँ भी मेरी ही भाँति सन्तान का सुख देखने के लिए रात दिन लालायित रहती थीं किन्तु विधि का विधान देखिए कि इस वृद्धावस्था में आकर मुझे केवल एक पुत्र प्राप्त हुआ। उसे दीर्घजीवी बनाने के लिए मैंने उनका नाम भी जन्तु रख दिया है किन्तु उसे भी आए दिन एक न एक व्याधि लग जाने की आशंका बनी रहती है।'

ऋत्विक बोला—'महाराज! आप की चिन्ता स्वाभाविक है। किन्तु उसे दूर भी किया जा सकता है। इस संसार में ऐसी कोई बात है ही नहीं जो तंत्र-विद्या विशारदों के लिए असंभव हो।'

राजा सोमक का हृदय ऋत्विक की इस आशाभरी वाणी से उछल पड़ा। जीवन भर पुत्रोत्पत्ति की चिन्ता से व्याकुल होने के कारण वह इतना आर्त्त हो गया था कि अपनी राजोचित मर्यादा को भुलाकर हाथ जोड़कर बोला—

'भगवन्! क्या सचमुच आप ऐसा कोई उपाय कर सकते हैं, जिससे हमारी सभी रानियों को एक-एक पुत्र उत्पन्न हो सके। यदि ऐसा हो जाय तो मैं अनेक जन्मों तक आपका आभारी रहूँगा।'

ऋत्विक मुस्कराते हुए बोला—'राजन्! उपाय तो अनेक हैं किन्तु तंत्र-विद्या में क्रूर उपायों के सिवा कोई मृदु उपाय नहीं है। यदि आप तैयार हों तो मैं आपकी रानियों में से प्रत्येक को एक एक पुत्र उत्पन्न होने का आभिचारिक प्रयोग कर सकता हूँ।'

राजा तत्क्षण बोल पड़ा—'ब्रह्मन्! मैं किसी भी प्रयोग के लिए सहर्ष तैयार हूँ। उपाय मृदु हो या अत्यन्त कठोर, यदि मेरी रानियों में से प्रत्येक को एक-एक पुत्र पैदा होने का आश्वासन आप देते हैं तो मैं आपको उक्त प्रयोग की सहर्ष अनुमति देता हूँ।'

ऋत्विक बोला—'राजन्! इस प्रयोग में मैं एक ऐसा यज्ञ करवाऊँगा जिसमें तुम्हें अपने एकलौते पुत्र जन्तु की आहुति देनी पड़ेगी। इस यज्ञ की समाप्ति के दस मास के भीतर तुम्हें सौ वैसे ही परम सुन्दर पुत्र उत्पन्न होंगे।'

ऋत्विक की क्रूर वाणी सुनकर राजा समेत उसके सभी पारिषद् कांप उठे। प्रस्ताव इतना क्रूर था कि मंत्रणागृह में किसी को तत्काल प्रत्युत्तर देने का साहस ही नहीं हुआ और थोड़ी देर तक सन्नाटा छाया रहा। फिर कुछ क्षणों बाद भयभीत स्वर में राजा बोला—

'ब्रह्मन्! मैं यह भी जानना चाहता हूँ कि एकाकी पुत्र की आहुति देने पर सौ पुत्र किस प्रकार उत्पन्न होंगे। और यदि कहीं पुत्र न उत्पन्न हुए तो क्या होगा?'

ऋत्विक गम्भीरता से बोला—'महाराज! ऐसा लगता है कि आपने तंत्र विद्या का चमत्कार अभी नहीं देखा है। मैं तो यही कह सकता हूँ कि सूर्य और चन्द्रमा, अग्नि और जल अपने गुणों का त्याग कर सकते हैं किन्तु तंत्र विद्या कभी निष्फल नहीं हो सकती। मैंने ऐसे प्रयोग अनेक बार किए हैं अतः आपको पूर्ण आश्वासन दे रहा हूँ।

जिस समय यज्ञारम्भ होगा उस समय आपकी सभी रानियों को उपस्थित होना पड़ेगा और यज्ञ के धुएं को सूंघने के कारण उन सब के गर्भ से आपके एकाकी बालक की भाँति सुन्दर और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होंगे। आपका यह एकाकी पुत्र जन्तु पुनः अपनी सगी माता के पेट से उत्पन्न होगा। और उसकी पहचान यह होगी कि उसकी दाईं पंसली में एक सुनहरा चिह्न होगा।'

मंत्रणागृह में ऋत्विक की इस क्रूर चर्चा से आतंक छा गया, किन्तु सौ पुत्रों के लोभ के कारण राजा सोमक ने उसके इस क्रूर प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए कहा—'भगवन्! जो जो कार्य जैसे जैसे करना हो, वह सब उसी प्रकार कीजिए। मैं सौ पुत्रों की कामना से आपकी

समस्त आज्ञाओं का यथाविधि पालन करूँगा। आप किसी प्रकार का संकोच या विकल्प न करें और शीघ्र ही अपना अनुष्ठान आरम्भ कर दें।

राजा सोमक की आज्ञा से ऋत्विक का वह क्रूर अनुष्ठान जब आरम्भ हुआ तो समस्त राज्य में हलचल मच गई और समूचे अन्तःपुर में तो मानों आग ही लग गई। जिस दिन आहुति देने का अवसर आया, राजा सोमक की सभी रानियाँ अत्यन्त शोक से विह्वल हो उठीं और ऋत्विक तथा राजा को क्रूर बातें कहते हुए कोसने लगीं, किन्तु राजाज्ञा को अन्यथा करने की शक्ति किसी में नहीं थी। और समूची राजधानी में ऐसे बहुत कम लोग निकले जो इस क्रूर विधान को देखने का साहस कर सकते।

क्रूर तथा निर्दयी ऋत्विक् ने कुररी पक्षी की भाँति विलाप करती हुई और हृदय में जन्तु को मजबूती के साथ चिपकाए हुए रानी के हाथों से बलात् उसे छीन लिया और यज्ञमण्डल में जाकर विद्युतगति से मंत्रों के साथ उसे खण्डशः काट कर यज्ञाग्नि में आहुति देना शुरू कर दिया। वह ऐसा करुण और क्रूर क्षण था कि अत्यन्त धैर्य धारण करने का संकल्प रखकर स्वयं राजा भी शोक विह्वल हो गया और उसकी सौ रानियों में से तो एक भी ऐसी नहीं बचीं जो रोते पीटते व्याकुल न हो गई हों। अकेला ऋत्विक ही अपने क्रिया-कलापों में ऐसा व्यस्त था मानों उसकी दृष्टि में यह कोई ऐसी घटना थी ही नहीं।

रानियों ने यज्ञाग्नि के धूएँ को जब सूंघा तो वे अत्यन्त शोक से मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ीं और राजा सोमक वहाँ से दूर हटकर अपने अपार शोक के असह्य भार को दोनों आँखों के मार्ग से बाहर निकालने लगा। अन्ततः उस क्रूर अनुष्ठान की समाप्ति पर ऋत्विक ने जब उसकी सर्वांग सफलता की घोषणा की तो पारिषदों, मंत्रियों और पुरोहितों ने राजा का जयजयकार कर के अनेक शीतलोपचारों से रानियों की मूर्च्छा दूर की और राजा के मंगल भविष्य की कामना प्रकट की।

तदनन्तर दस मास बीतने पर ऋत्विक् की योजना के अनुसार जब

एक दिन सभी रानियों को सौ पुत्र उत्पन्न हुए तो राजा सोमक की राजधानी में अपार महोत्सव मनाया गया। वे सभी बालक रूप और गुण में राजा के प्रथम पुत्र जन्तु के समान थे और ज्येष्ठ पुत्र जन्तु अपनी सगी माता के गर्भ से पैदा हुआ और उसकी दाहिनी पसली पर वही सुनहरा चिह्न था, जिसका संकेत ऋत्विक् ने पहले ही किया था।

सौ पुत्रों की प्राप्ति के बाद राजा सोमक और उनकी रानियों का सब शोक दूर हो गया और वे सब तन मन धन से उस ऋत्विक के अनुगृहीत बनकर दिन-रात उसका गुणगान करने लगे।

राजा का प्रथम पुत्र जन्तु इस जन्म में भी सभी रानियों का परम प्यारा था और सभी रानियाँ अपने सगे पुत्र से भी बढ़कर उसका प्यार करती थीं। और स्वयं राजा सोमक भी उस पर प्राण देता था, क्योंकि इन सभी पुत्रों की उत्पत्ति का वही एक मात्र कारण था। राजा सोमक के सौ पुत्रों में अवस्था और गुणों की दृष्टि से जन्तु ही सर्वश्रेष्ठ भी था, यद्यपि सबके सब उसी के समान स्वरूपवान और योग्य थे।

इस प्रकार अनुपम सुन्दर, गुणवान और सुयोग्य सौ पुत्रों को पाकर राजा सोमक और उनकी रानियों का जीवन जहाँ अतीव सुख सन्तोष और आनन्द के साथ बीतने लगा वहीं उस आभिचारिक प्रयोग के प्रयोक्ता ऋत्विक का जीवन उक्त अनुष्ठान के अनन्तर नारकीय यातनाओं से भर गया। उसका सुन्दर स्वस्थ शरीर थोड़े ही दिनों में अनेक दुराराध्य और असाध्य व्याधियों का मंदिर बन गया और वह अकाल मृत्यु का ग्रास बनकर नरक का निवासी बना। और इधर कुछ दिनों बाद कालधर्म के कारण राजा सोमक का भी स्वर्गवास हो गया।

यमलोक में जाने पर राजा सोमक ने देखा कि उसका वह ऋत्विक नरक की असह्य यातनाओं में दग्ध किया जा रहा है। उसकी यह अवस्था देखकर राजा के हृदय में बड़ी सहानुभूति पैदा हुई और उन्होंने पुरोहित की उस दुरवस्था का कारण पूछा।

ऋत्विक बोला—'महाराज ! मैंने आपका जो यज्ञ करवाया था, उसी के कारण मुझे यह नरक भोगना पड़ रहा है। आपके पुत्र की आहुति देने का यह परिणाम मुझे भोगना पड़ रहा है।'

राजा सोमक को ऋत्विक की यह दुर्दशा देखकर बड़ी करुणा हुई। उन्होंने सोचा कि जिस अनुष्ठान के कारण हमारा जीवन इतना सुखी हुआ उसी के कारण ऋत्विक को यह असह्य यातना भोगनी पड़ रही है अतः मुझे भी उसके दुःखों का भोग करना उचित होगा, क्योंकि बेचारे ऋत्विक ने मेरे कल्याण के लिए ही उक्त अनुष्ठान किया था।

राजा तत्क्षण धर्माधर्म के नियंत्रक देवता यमराज के पास पहुँचा और उनसे सविनय निवेदन किया—'भगवन् ! जिस अनुष्ठान के कारण हमारे ऋत्विक को इस नरकाग्नि में आप दग्ध करा रहे हैं, उसका फल-भोक्ता तो मैं ही हूँ, अतः मैं अपने पुरोहित के स्थान पर उस नरकाग्नि में स्वयं प्रविष्ट होना चाहता हूँ और आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप उन्हें इस यातना से मुक्त कर दें।'

यमराज हंसने लगे। बोले—'राजन् ! कर्त्ता के सिवा दूसरा कोई व्यक्ति उसके किए हुए कर्मों का फल कभी नहीं भोगता है। तुम्हें तो अपने पुण्य कर्मों के फलानुसार पुण्यलोक प्राप्त हुए हैं, जो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहे हैं। तुम उनमें चल कर अपना स्थायी निवास बनाओ और अपने ऋत्विक को उसके पापकर्मों का फल भोगने के लिए छोड़ दो।'

सोमक को यमराज की वाणी से सन्तोष नहीं हुआ। वह व्यथाभरे स्वर में बोले—'भगवन् ! मैं अपने वेदवेत्ता पुरोहित के बिना उन पुण्य लोकों में एकाकी निवास नहीं करना चाहता। सुख-शान्ति दायी स्वर्ग लोक हो या नरक का भीषण अग्नि-कुण्ड हो मैं इनको अपने साथ ही रखना चाहता हूँ। देव ! मैं चाहता हूँ कि मेरे अर्जित पुण्य कर्मों पर इनका भी मेरे ही समान अधिकार हो और उसी प्रकार इनके पाप कर्मों का फल मुझे भी भोगने के लिए दिया जाय। हम दोनों को एक दूसरे

के किए हुए पुण्य और पाप कर्मों के फल समान रूप से मिलें—यही मेरी प्रार्थना है।'

यमराज कुछ क्षण के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए, किन्तु फिर से विचार करके बोले—'राजन्। यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो अपने ऋत्विक के साथ रहकर उतने ही समय तुम भी पाप-कर्मों का फल भोगो, और तब इसके बाद अपने ऋत्विक के साथ तुम्हें उत्तम गति प्राप्त होगी।'

फिर तो राजा सोमक ने वैसा ही किया और अपने ऋत्विक के समस्त पाप कर्मों का फल उनके साथ ही भोगकर स्वर्ग के उत्तम लोकों में ऋत्विक के साथ ही समानाधिकार प्राप्त किया।

गुरु और शिष्य का संघर्ष -

सुप्रसिद्ध सूर्यवंश में वैवस्वत मनु के वंशज महाराज इक्ष्वाकु के सौ पुत्रों में विंश या विकुक्षि सबसे बड़ा था। इक्ष्वाकु का राज्य समस्त भूमण्डल भर में फैला हुआ था, अतः उन्होंने राज्य शासन की सुव्यवस्था एवं प्रजा के हितार्थ अपने पचास पुत्रों को उत्तर दिशा में तथा अड़तालीस पुत्रों को दक्षिण दिशा में शासन कार्य चलाने के लिए विभिन्न स्थानों पर नियुक्त किया। जो पुत्र जहाँ नियुक्त किया गया वहाँ का सब शासन प्रबन्ध उसके अधीन किया गया था। सबसे ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण विकुक्षि को इक्ष्वाकु की मुख्य राजगद्दी मिली और वही सबका प्रमुख शासक बना। किन्तु बारहवाँ पुत्र निमि सबसे अधिक तेजस्वी, पराक्रमी, नीतिज्ञ और दयालु था। महाराज इक्ष्वाकु उसे भी अपने ज्येष्ठ पुत्र के समान आदर देते थे। फलतः विकुक्षि के समान उसे भी उत्तरापथ का वह प्रदेश दिया गया, जहाँ वर्त्तमान बिहार राज्य अवस्थित है।

इस प्रकार इक्ष्वाकु के अनन्तर मुख्य राज्य के दो भाग हुए, जिनमें से एक विकुक्षि के अधीन तथा दूसरा निमि के अधीन रहा, और शेष अट्ठानबे भाई इन्हीं दोनों के वशवर्ती होकर अपने राज्य की सीमा के भीतर का सब राज-काज चलाते रहे।

यों तो सभी भाई महाराज इक्ष्वाकु की प्रतिभा, तेजस्विता और नीतिज्ञता के सच्चे उत्तराधिकारी थे, किन्तु निमि सभी अर्थों में इक्ष्वाकु के समान ही लोकप्रिय था। प्रजा उस पर प्राण देती थी और वह भी प्रजा को अपने पुत्रों के समान हृदय से प्यार करता था और दिन रात प्रजा के कल्याणकारी उपायों में लगा रहता था। निमि का शरीर भी देवताओं के समान परम सुन्दर और स्वस्थ था। विस्तृत वक्ष-स्थल,

उन्नत ललाट, तेजस्वी एवं कमलदल के समान दीर्घायत नेत्र, पीन आजानुलंबित भुजाएँ, वृषभ के समान ऊँचे स्कन्ध युक्त चमकते हुए गौरवर्ण का उसका विशाल शरीर देखकर लोग दूर से ही आतंकित हो जाते थे। किन्तु उसके हृदय में सभी जीवों के प्रति अपार करुणा थी। किसी का दुःख या रुदन देखकर वह द्रवित हो जाता था किन्तु अपराधी आततायियों का वह काल-शत्रु भी था। पर दुःख-कातरता से विवश होकर वह अपने शरीर की भी चिन्ता छोड़ देता था किन्तु राज नियमों के अनुशासन का कट्टर समर्थक और प्रेमी था। धर्म-कर्म, याग-यज्ञ और जप-तप का वह अनन्य अनुरागी था और अपने राज्य भर में सदैव इस प्रकार के आयोजनों को बढ़ावा देता था। इसका परिणाम यह था कि जहाँ धार्मिक जनता में वह पिता के समान पूज्य था वहीं अपराधियों के लिए यमराज के समान विकराल एवं क्रूर माना जाता था। वह प्रतिदिन दान और पंचयज्ञ किए बिना अन्न जल नहीं ग्रहण करता था और विद्वानों तथा सन्त-महात्माओं के संग प्रतिदिन सन्ध्या के समय सत्संग करता था।

राजकुमार निमि महाराज इक्ष्वाकु का परम भक्त था। यद्यपि इक्ष्वाकु राजकाज से विरक्त होकर वानप्रस्थ जीवन बिता रहे थे तथापि निमि उनसे परामर्श लिए बिना कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं करता था। फलस्वरूप महाराज इक्ष्वाकु का भी निमि पर अनन्य स्नेह था और बहुधा वह उसके कार्यों में परामर्श देना अनुचित नहीं समझते थे।

एक बार निमि ने एक ऐसा महान् यज्ञ करने का विचार प्रकट किया जैसा अब तक धरती पर किसी दूसरे राजा ने न किया हो। इस यज्ञ की तैयारी के लिए उसने प्रचुर धन-धान्य एकत्र किया और अपने पिता इक्ष्वाकु से उक्त यज्ञ के सम्पन्न होने का आशीर्वाद मांगा। पिता ने प्रसन्न चित से निमि को आशीर्वाद देते हुए कहा—

'आयुष्मन्! तुम्हारे इस यज्ञ से धर्म की मर्यादा दृढ़ होगी और तुम्हारा यश अक्षय होगा। किन्तु यज्ञ के पूर्व उसके विघ्नों की शान्ति

के उपाय आवश्यक हैं। प्रायः यज्ञ में विघ्नों की बहुलता होती है। जो यज्ञ जितना बड़ा होता है, उतना ही उसमें विघ्न भी अधिक पड़ते हैं। तुम जानते हो, देवराज इन्द्र को धरती पर सम्पन्न होने वाले यज्ञों से सदैव बड़ा भय लगा रहता है। अतः वे तुम्हारे इस महान् यज्ञ को विफल बनाने का कोई भी उपाय उठा नहीं रखेंगे। अतः मेरी सलाह है कि तुम सर्वप्रथम प्रमुख ऋषियों-मुनियों से यज्ञ को सम्पन्न कराने का आश्वासन ले लो और अपने सभी भाइयों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करो।'

निमि ने पिता की आज्ञा का पालन किया। सर्वप्रथम उसने इस महान् यज्ञ के लिए अपने भाइयों से धन-धान्य, सुवर्ण, रत्न, गौ, अश्वादि के विपुल संग्रह की प्रार्थना की, जिसे सब ने सहर्ष स्वीकार किया और अपने अपने राज्यों से इतना धन-धान्य, सुवर्ण-रत्नादि निमि की राजधानी में भेजा कि वहाँ कहीं रखने की जगह नहीं रह गई। धरती भर में ऐसा एक भी बहुमूल्य रत्न नहीं बचा, जिसे उक्त यज्ञ में दान देने के लिए उसके भाइयों ने निमि के पास न भेजा हो। सुवर्ण, रजत एवं रत्नों की ढेरियों से निमि की राजधानी में पहाड़ से लग गए। और सम्पूर्ण भूमण्डल पर इस महान् यज्ञ की, आरम्भ होने के पहले ही बड़ी चर्चा चल गई।

निमि ने जब देखा कि अब धन-धान्यादि का यथेष्ट से अधिक संग्रह हो चुका है तो वह स्वयं अपने अमात्यों के संग बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों के पुण्याश्रमों को गया और उनसे अपने इस यज्ञ में सक्रिय सहयोग एवं भाग लेने की सादर प्रार्थना की। महर्षि गौतम से प्रार्थना कर उनके आश्रम के समीप ही यज्ञ स्थल का निश्चय किया गया और अंगिरा, भृगु आदि से यज्ञ में भाग लेने की सहमति प्राप्त कर ली गई। इनके अतिरिक्त जितने भी वेदों के पारगामी पण्डित, विद्वान एवं पुरोधा थे, उनसे भी अपने शिष्यों आदि के साथ इस महायज्ञ में भाग लेने की प्रार्थना निमि ने की।

महाराज इक्ष्वाकु के कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ थे। निमि को विश्वास

था कि पहले उन ऋषियों-मुनियों की सहमति प्राप्त कर ली जाय जिनका हमारे राजवंश से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। महर्षि वसिष्ठ तो अपने कुलगुरु हैं, उन्हें तो सब मालूम ही है, अतः उनसे पूर्वानुमति लेने की उतनी आवश्यकता भी नहीं है। किन्तु इधर भीतर भीतर दूसरा षड्यन्त्र चल रहा था।

धरती पर निमि के इस महान् यज्ञ की सविधि तैयारी की चर्चा जब देवलोक में पहुँची तो देवराज इन्द्र की सहज ईर्ष्याग्नि जल उठी। वह सभी उपायों से निमि के इस यज्ञ को विफल बनाने के लिए कृतसंकल्प हो उठे। उन्हें जब यह बात मालूम हो गई कि निमि ने अभी तक महर्षि वसिष्ठ से अपने यज्ञ में भाग लेने की औपचारिक स्वीकृति नहीं ली है तो वह तत्काल महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में पहुँच गए और उनसे अपने यज्ञ में भाग लेने की सविनय प्रार्थना की। महर्षि वसिष्ठ को निमि के यज्ञ का वृत्तान्त यद्यपि ज्ञात था तथापि देवराज इन्द्र के अनुरोध को वह अस्वीकार नहीं कर सके और यथासमय इन्द्र के यज्ञ में अपने शिष्यों समेत पहुंचने का उन्होने वचन दे दिया। जान बूझकर देवराज इन्द्र ने भी अपने यज्ञारम्भ का शुभ मुहूर्त उसी दिन निश्चय किया था, जिस दिन से निमि का यज्ञ आरम्भ होने वाला था।

जब बाहर के ऋषियों-मुनियों की उपस्थिति एवं सहयोग का पूर्ण निश्चय हो गया और यज्ञारम्भ के दो ही चार दिन शेष रह गए तो निमि ने अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ से भी अपने यज्ञ में आचार्य का पद ग्रहण करने की औपचारिक प्रार्थना की।

उसने कहा—'गुरुदेव ! केवल आपके भरोसे पर ही मैंने यह महान् यज्ञ आरम्भ किया है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आपके सिवा इस धरती पर ऐसा कोई नहीं है, जो इस प्रकार का यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न कर सके। मेरी प्रार्थना है कि आप हमारे इस यज्ञ में आचार्य बनें, और अपनी सहायता के लिए अन्यान्य ऋषियों-मुनियों को जिस किसी पद पर चाहें नियुक्त करें। हमारा यह यज्ञ सर्वथा आपकी कृपा पर निर्भर है।'

महर्षि वसिष्ठ पहले ही से निमि पर कुछ क्षुब्ध थे। क्योंकि अन्यान्य ऋषियों-मुनियों के यहाँ जाकर स्वीकृति लेने के पूर्व तो निमि ने उनसे पूछा भी नहीं था तो अब उनके ही निर्देशन में यज्ञ को समाप्त करने की प्रार्थना का क्या तुक था। वह उदास स्वर में बोले—

'राजन्! मुझे खेद है कि मैं पहले ही से देवराज इन्द्र के यज्ञ में आचार्य होने की स्वीकृति दे चुका हूँ। यदि आपने पहिले ही से मुझे अपने यज्ञ में भाग लेने के लिए कहा होता तो यह परिस्थिति न आती। अब आप ही बताइए कि मैं देवराज को दिए गए अपने वचन का उल्लंघन कैसे कर सकता हूँ।'

वसिष्ठ की बातें सुनकर राजा निमि स्तंभित हो गया। उसे कुछ सुझाई नहीं पड़ा कि क्या किया जाय। कुछ क्षणों तक चुप रहकर वह विनयभरी वाणी में बोला—

'गुरुदेव! मैं पिछले कई वर्षों से अपने इस यज्ञ की तैयारी करता रहा हूँ। यह सत्य है कि मैंने औपचारिक रूप से आज के पहिले आपको सूचना यह समझकर नहीं दी कि आप तो हमारे कुलगुरु हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि आपको हमारे यज्ञ का समाचार बहुत पहले ही से ज्ञात है। संसार में ऐसा कौन कुलगुरु है जो अपने यजमान के यज्ञ को छोड़-कर दूसरे के यज्ञ में भाग लेने जाता हो। मैं जानता हूँ कि आज के पूर्व आप ने देवराज इन्द्र के किसी भी यज्ञ में आचार्यत्व नहीं किया है तब फिर क्या कारण है कि इतने वर्षों से आयोजित हमारे इस महान् यज्ञ को विफल बनाने के लिए आप देवराज के यज्ञ में भाग लेने जा रहे हैं।'

महर्षि वसिष्ठ को निमि की इस विनयभरी वाणी में व्यंग्य की तीव्र गन्ध मिली। वे पहिले ही से क्षुब्ध तो थे ही, अब और भी रुष्ट हो गए और बोले—

'राजन्! कुलगुरु समझकर अवज्ञा करना अधर्म है। यह सत्य है कि आपने कई वर्षों पहिले से अपने इस यज्ञ का आयोजन किया है किन्तु आज से पहिले आपने मुझसे इसके सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की है।

यज्ञ की मर्यादा है कि उसमें अपने बन्धु-बान्धवों तक को विधिवत् आमंत्रित करना चाहिए। मैं तो कुलगुरु था, अतः आपको पहिले ही से मुझे आमंत्रित करना चाहिए था। इसी बीच देवराज ने मुझे वचन-बद्ध करा लिया। अत: आपके यज्ञ में भाग लेने के लिए मैं विवश नहीं हूँ। और यदि आप चाहते हैं कि मैं उसमें भाग लूँ। तो यह हो सकता है कि आप तब तक अपना यज्ञ स्थगित रखें जब तक मैं देवराज का यज्ञ सम्पन्न कराकर वापस न आ जाऊँ।'

निमि बोला—'गुरुदेव ! वर्षों पूर्व का सुरक्षित धन-धान्य आपके वापस लौटते तक नष्ट हो जायगा, क्योंकि मैं समझता हूँ कि देवराज का यह यज्ञ बहुत दिनों तक चलता रहेगा।'

बसिष्ठ बोले—'तब फिर बताइए कि मैं क्या करूँ। सामान्य मनुष्य को भी कोई वचन देकर टाला नहीं जा सकता तो देवराज इन्द्र को प्रदत्त वचन मैं कैसे टाल दूँ। आप किसी अन्य को अपने यज्ञ का आचार्य बना लें।'

निमि ने कहा—'आचार्य ! आप हमारे पूर्वजों के कुलगुरु हैं अत: आप की उपस्थिति का अनुमान कर के ही अन्य ऋषियों-मुनियों ने हमारे इस यज्ञ में भाग लेने का वचन दिया है। किन्तु जब उन्हें ज्ञात होगा कि आप ही हमारे यज्ञ में नहीं भाग ले रहे हैं तो वे भी विरत हो जायँगे और इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण यज्ञ और इतने वर्षों का परिश्रम निष्फल हो जायगा। आपके कारण ऋषियों में अतिवृद्ध अंगिरा भी हमारे यज्ञ में भाग लेने के लिए आ रहे हैं तो आपका ही अनुपस्थित रहना उचित न होगा।'

वसिष्ठ ने कहा—'राजन् ! चाहे उचित हो या अनुचित, मैं अपना वचन तोड़ नहीं सकता। आप जैसे चाहें अपना यज्ञ सम्पन्न कराएँ। मैं इसमें सर्वथा निर्दोष हूँ।'

यह कह कर महर्षि वसिष्ठ अपने आसन से उठ खड़े हुए, जिसका तात्पर्य यह था कि इसके बाद राजा निमि को चुपचाप उनके आश्रम से

वापस चला जाना चाहिए। वसिष्ठ के इस अनुचित व्यवहार से निमि को बड़ा धक्का लगा और थोड़ी देर के लिए वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर खड़ा ही रह गया। किन्तु जब वसिष्ठ अपने आसन से उठकर दूसरी ओर चल पड़े तो निमि का अमर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। आन्तरिक उद्वेग के कारण उसका सहज सुन्दर मुख-कमल कुम्हलाकर मलिन हो गया। अभिराम आँखों में अरुणिमा छा गई और हृदय के धड़कने के साथ साथ अमंगलसूचक बाईं भुजा का स्फुरण भी होने लगा। वह अत्यन्त विचलित हो गया और उसके मुख से यह वाणी अपने आप निकल गई।

—'गुरुदेव ! आपका यह निचश्य नितान्त अनुचित और अविवेक-पूर्ण है। मुझे ऐसा लगता है कि आप धन के लोभ के कारण देवराज इन्द्र के यज्ञ में आचार्य होने के लिए जा रहे हैं और अपने वापस लौटने तक हमारे यज्ञ को भी स्थगित करवाना चाहते हैं। यह गर्हित कर्म आप जैसे महर्षि के लिए निन्दाजनक है।'

ऊपर की यह बातें कहते कहते निमि का स्वर अत्यन्त रुक्ष हो गया था और वह क्रोधावेश से काँपने-सा लगा था।

वसिष्ठ पहले ही से भरे बैठे थे। अपनी प्रत्यक्ष निन्दा सुनने का अभ्यास उन्हें कभी नहीं था। सुप्रसिद्ध सूर्यवंश के कुलगुरु को कभी अपमान भरी बातें सुनने को मिलेंगी—ऐसा उन्होंने सोचा भी नहीं था। अतः निमि की जलती हुई इस वाणी का उन्होंने भी उसी स्वर में उत्तर दिया—

'कुलाधम ! तू मेरा अपमान करने के लिए यहाँ आया है। तुझे धर्म की और यज्ञ की मर्यादा का तनिक भी ज्ञान नहीं है। मेरी निन्दा करने के पूर्व तेरी जिह्वा क्यों नहीं गिर पड़ी। क्या तू सचमुच यम की दाढ़ों के बीच में अपना स्थान बनाने की तैयारी में है। क्योंकि इस उज्ज्वल सूर्यवंश में तुम्हारे सिवा ऐसा कोई नहीं जनमा, जिसने मेरे सामने मुझे

ऐसे कुवाच्य कहा हो। जा, मैं तुझे शाप से दग्ध करता हूँ और निर्मल सूर्यवंश के कलंक को सदा के लिए मिटा देना चाहता हूँ।'

वसिष्ठ की यह वाणी वज्र की भाँति चराचर जगत भर में व्याप्त हो गई। धरती हिलने लगी, आकाश में उल्का पतन के दृश्य दिखाई पड़ने लगे। नदियों और सरोवरों की जलराशि उद्वेलित होकर स्थल-मार्ग पर लहराने लगी और बड़े बड़े गिरि-शिखर काँप उठे।

राजा निमि का तेज भी अमोघ था। वसिष्ठ के इस बिकराल रूप का अनुमान उन्हें पहले से तो नहीं था, किन्तु जब उन्होंने देखा कि अपना अन्तिम समय आ गया है और सचमुच, शरीर भी जलने लगा है तो वह भी अग्नि की वर्षा सी करते हुए बोले—

'महामुने! आपका धर्म और विवेक नष्ट हो गया है। जीवनभर पौरोहित्य करने के कारण लोभ, मोह और अज्ञान ने आपकी संचित तपोराशि को नष्ट कर दिया है। आपका ब्राह्मणत्व भी विलुप्त हो चुका है। क्योंकि लोभ से ब्राह्मणो का पतन हो जाता है। निश्चय ही धन के लोभ के कारण आप देवराज इन्द्र का यज्ञ कराने के लिए स्वर्ग तक दौड़े जा रहे हैं और अपने वापस लौटने तक मेरे यज्ञ को स्थगित कराना चाहते हैं। इसी लोभ ने आपके विवेक और तप को भी नष्ट कर दिया है, क्योंकि क्रोधान्ध होकर आपने जो भीषण शाप मुझे दिया है, उसके कारण मेरा शरीर जला जा रहा है। तो ऐसे चाण्डाल क्रोध को अंगीकार करके निश्चय ही आप पतन के गर्त में गिर चुके हैं। अतः मैं भी आपको शाप देता हूँ कि आपका यह लोभ, मोह तथा क्रोध से आविष्ट शरीर जलकर नष्ट हो जाय।

इस प्रकार देखते ही देखते महर्षि वसिष्ठ और निमि की शापयुक्त वाणी अग्नि की भयंकर लपटों के समान एक दूसरे के शरीर को भस्म करने लगीं और दो के दोनों ही अपने किए पर पश्चात्ताप करने लगे। किन्तु अब हो भी क्या सकता था। कोई किसी से कम नहीं था। जहाँ महर्षि वसिष्ठ ब्रह्मपुत्र होने के कारण वेद-वेदांगों के महान् प्रवक्ता

अप्रतिम तपस्वी और साधक थे, वहीं निमि भी भगवान् भास्कर का वंशज, आजीवन तपोरत, दानरत, परदुःखकातर तथा न्यायपरायण था। उसने न तो कभी मिथ्याभाषण किया था और न पर-द्रोह। जीवन भर दान तथा यज्ञ की सत्क्रियाओं में लगे रहने के कारण उसका भी तप अखण्डित था। अतः वसिष्ठ की शापाग्नि के समान ही जब निमि की शापाग्नि भी चराचर को दग्ध करते हुए वसिष्ठ का शरीर जलाने लगी तो वे अपना धैर्य भूल गए और तत्क्षण अत्यन्त करुण स्वर से अपने पिता ब्रह्मा का स्मरण करते हुए अपनी रक्षा की गुहार लगाई और अन्त समय में यह कामना प्रकट की कि—

'मेरा पुनर्जन्म पुनः इसी रूप में हो और इस जन्म की संचित तपस्या और ज्ञानराशि को पुनःप्राप्त कर सकूं।'

पुराणों का कथन है कि पितामह ब्रह्मा की कृपा से ऐसा ही हुआ। महर्षि वसिष्ठ का तपःतेज तत्क्षण उनके जलते हुए शरीर से निकल कर मित्रावरुण के तेज में आविष्ट हो गया और कालान्तर में ऊर्वशी के दिव्य रूप पर मोहित मित्रावरुण के स्खलित वीर्य से एक खुले हुए कुम्भ के द्वारा मुनिवर अगस्त्य के साथ उनका पुर्नजन्म हुआ। और जन्म लेने के साथ ही उनकी पूर्वजन्म की अभिलाषा पूरी हुई। वे दिव्यरूप सम्पन्न थे, बाल सूर्य की भाँति तेजस्वी थे, समस्त विद्याओं के आगार थे और पूर्वजन्मार्जित साधना और तपस्या से महिमान्वित थे। जब वे बालक थे तभी महाराज इक्ष्वाकु को ज्ञात हुआ कि वही महर्षि वसिष्ठ हैं। अतः उन्होंने बालक वसिष्ठ को आदरपूर्वक लिवा जाकर उनके पूर्वपद पर प्रतिष्ठित करने के लिए अपने ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि को आज्ञा दी।

इधर वसिष्ठ की शापाग्नि से दग्ध राजा निमि का शरीर जब दग्ध होने के पूर्व धरती पर गिर पड़ा तो महर्षि अंगिरा की कृपा से उनकी भी अन्तिम इच्छा पूरी हुई। निमि की अभिलाषा थी कि उसे प्राणि-

मात्र के नेत्रों में ठहरने का स्थान मिले और उसके वंश का कभी उच्छेद न हो।

पुराणों की मान्यता है कि तभी से प्राणिमात्र के नेत्रों पर निमि का निवास है और इसी कारण आँख की पलकों के गिराने और उठाने की मध्यावधि को निमिष या निमेष कहते हैं।

निमि के बाद उसका पुत्र मिथि हुआ, जिसने आगे चलकर मिथिला नामक नगरी में अपनी राजधानी बनाई। बताते हैं मिथि का जन्म निमि के शरीर के मन्थन से हुआ था और वह भी अपने पिता के समान परम धार्मिक, यज्ञपरायण, तपस्वी, दानी तथा परोपकारी राजा था। और अपने जीवन भर उसने भी अपने पिता के द्वारा स्थापित दान और यज्ञ की परम्पराओं को जीवित रखा था।

इस प्रकार प्राचीन काल में गुरु और शिष्य के इस साधारण विवाद ने इतना भयंकर रूप धारण कर लिया था कि वसिष्ठ जैसे वेदज्ञ, ब्रह्मज्ञानी एवं निमि जैसे दानी और पराक्रमी राजा का विनाश हो गया था।

चोरी में धर्म-मर्यादा

एक बार पश्चिम के समुद्र तट पर अवस्थित प्रभास नामक तीर्थ में किसी राजा द्वारा आयोजित एक महान् यज्ञ के प्रसंग में देश भर के ऋषियों-मुनियों का समूह एकत्र हुआ था। कई दिनों तक वहाँ जप-तप, पूजा-पाठ,दान- यज्ञ और धर्म-कर्म के रहस्यों पर उपदेश और प्रवचन चलते रहे, जिसमें अनेक राजाओं-महाराजाओं और साधारण जनता ने भी भाग लिया। समारोह जब समाप्त हो गया और सब ने अपने-अपने आश्रम को वापस जाने की तैयारी की तो महर्षि भृगु की प्रेरणा से समस्त ऋषियों-मुनियों ने आपस में सलाहकर समस्त भूमण्डल की पद-यात्रा करने का निश्चय किया और यह तय किया कि हम सब लोग एक ही साथ पृथ्वी की प्रदक्षिणा करें।

जिन ऋषियों-मुनियों ने पृथ्वी-प्रदक्षिणा का यह निश्चय ग्रहण किया, उनमें शुक्राचार्य, अंगिरा, अगस्त्य, देवर्षि नारद, भृगु, वसिष्ठ, पर्वत, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, गालव, अष्टक, भरद्वाजादि ऋषि तथा ऋषिपत्नी अरुन्धती के साथ बालखिल्यगण, शिवि, दिलीप, नहुष, अम्बरीश, ययाति, पूरु, धुन्धुमार प्रभृति राजा भी थे। ऋषियों-महर्षियों एवं राजाओं-महाराजाओं का यह पृथ्वी-पर्यटक दल चारों दिशाओं में घूमते हुए तीर्थाटन करने लगा। जहाँ कहीं यह लोग पहुँचते अपनी उपस्थिति से पास पड़ोस के निवासियों को अनायास एकत्र कर लेते। दो चार दिन रुककर वहाँ कथा उपदेश करते और फिर आगे की ओर चल देते। देश की जनता के मन पर इनकी उपस्थिति एवं इस पद-यात्रा का गम्भीर प्रभाव पड़ता। लोग इनके उपदेशों को हृदय से स्वीकार करते और जबतक वश चलता इनके साथ-साथ चलकर इनकी सेवा-शुश्रूषा और सहायता करने की प्रार्थना करते।

किन्तु इस पृथ्वी-पर्यटक दल में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं था, जो अपना सब काम-काज अपने हाथों न करता। बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी, जो जीवन भर दास-दासियों की सेवा के अभ्यासी थे और जिन्हें कभी एक कोस भी पैदल चलने का अभ्यास नहीं था, किसी की सहायता की अपेक्षा न करते और उन्हें भी इस पद-यात्रा में साम्राज्य के वैभव से भी अधिक सुख मिलता। अनभ्यास के कारण आरम्भ में उनके पैरों में छाले पड़ गए थे, शरीर सूखने लगे थे और ऐसा मालूम पड़ता था कि यह व्रत पूर्णतया नहीं निभेगा किन्तु दस-पाँच दिनों के भीतर ही आन्तरिक निष्ठा के कारण उनके कोमल चरणों में घट्टे पड़ गए और उनका बलवान शरीर कठिनाइयों को सहने का अभ्यासी बन गया। वे देखते थे कि वृद्ध-से भी वृद्ध ऋषि-मुनि जब चुपचाप अपने मार्ग पर आगे बढ़ते चले जा रहे हैं तो उनका मध्य-मार्ग में व्रत भंग करना समुचित नहीं है।

इस प्रकार भूमण्डल के सर्वश्रेष्ठ महानुभावों की इस पृथ्वी-प्रदक्षिणा की खबर जब स्वर्ग लोग में पहुँची तो देवराज इन्द्र को भी यह अभिलाषा हुई कि जैसे भी हो इन लोगों की संगति की जाय, क्योंकि सत्पुरुष जहाँ रहते हैं वहीं स्वर्ग है। निदान देवराज इन्द्र भी ऋषियों-मुनियों एव राजर्षियों की इस टोली में आकर सम्मिलित हो गए और उनकी उपस्थिति के कारण इस टोली में नया जीवन-सा आ गया।

घूमते-घामते यह टोली जब कौशिकी नदी के तट पर पहुँची तो संयोगात् उस दिन माघ की पूर्णिमा तिथि थी। पुण्यसलिला कौशिकी नदी में स्नान कर ऋषियों मुनियों एवं राजर्षियों ने उस ब्रह्मसर की ओर प्रस्थान किया, जो अपनी अक्षय कमल-सम्पदा एवं निर्मल जल-राशि के कारण उस समय भूमण्डल भर में प्रसिद्ध था।

ब्रह्मसर के समीप पहुँचकर ऋषियों-मुनियों की थकावट जैसे दूर हो गई। उसकी प्राकृतिक मनोहारिणी छटा देखकर वे अपने को भूल गए और अपना जीवन सफल मानने लगे। उन्होंने देखा कि योजनों

तक फैली हुई ब्रह्मसरोवर की नीली जलराशि नीले आकाश का भ्रम पैदा कर रही है। उसमें चतुर्दिक फूली हुई रंग-विरंगी कमलों की पंक्तियाँ रंग-विरंगी तारागण के समान चमक रही हैं। सारसादि जल-पक्षियों के कल-कूजन द्वारा मानों तट पर पहुंचते ही ब्रह्मसरोवर ने उन धरती और स्वर्ग के अधिकारियों का हार्दिक स्वागत किया।

ब्रह्मसरोवर की इस लुभावनी छटा को देखकर देवराज इन्द्र समेत बड़े-बड़े ऋषियों को कुछ क्षण बाद अपना-अपना होश आया तो सब ने उसमें स्नान एवं तर्पणादि का कार्यक्रम बनाया और सर्वसम्मति से यह भी तय किया कि आज के दिन हम सब केवल ब्रह्मसरोवर के कमलों का ही आहार करेंगे और तीन दिनों तक इसके मनोहर तट पर निवास करके तब आगे बढ़ेंगे।

जब यह कार्यक्रम तय हो गया तो सभी ऋषि-मुनि एवं राजे-महाराजे ब्रह्मसरोवर की निर्मल जलराशि में स्नान के लिए उतरे और स्नान के अनन्तर कमल के फलों के साथ उसका मूल भाग खोद-खोदकर एकत्र करने लगे। महर्षि अगस्त्य सदा से अधिक भोजन करने में विख्यात थे और उन्हें इस समय भूख भी सब से अधिक लगी थी। अतः स्नान के साथ ही उन्होंने सब से पहले कमलों का संग्रह भी शुरू कर दिया और खूब परिश्रम करके बहुत शीघ्र ही बहुत सी खाद्य समाग्री लाकर सरोवर के तट पर रख दी और फिर स्नानार्थ सरोवर में घुस पड़े। महर्षि अगस्त्य की देखादेखी अन्य ऋषियों-मुनियों तथा राजाओं-महाराजाओं ने भी कमलों की खाद्य-सामग्री एकत्र करने का कार्य जब आरम्भ किया तो समीपवर्ती स्थलों से कमलों के महर्षि अगस्त्य द्वारा संगृहीत कर लेने के कारण उन्हें दूर दूर भटकना पड़ा, किन्तु उन्हें उनकी जितनी सामग्री भी नहीं मिली। बड़ी देर तक महर्षि अगस्त्य इसके लिए अन्य दीर्घसूत्री ऋषियों-मुनियों आदि का परिहास भी करते रहे और स्वयं जल में स्नान करते हुए समीप में सुलभ थोड़े-बहुत कमलों का संचयन भी करते रहे।

अन्तत: स्नान-क्रिया जब समाप्त हुई और सभी ऋषि-मुनि अपने-अपने हाथों में कमलों की खाद्य सामग्री लेकर सरोवर से बाहर निकले तो महर्षि अगस्त्य को यह देखकर परम विस्मय और खेद हुआ कि अत्यन्त परिश्रम से पहले की संगृहीत उनके कमलों की ढेरी पता नहीं कहाँ गायब हो गई है। उन्हें यों तो क्षुधा पहले ही से अधिक लगी थी किन्तु अब स्नान के बाद तो वह स्वभावत: और भी प्रदीप्त हो चुकी थी। अत: जब उन्हें अपने कमलों की ढेरी कहीं नहीं दिखाई पड़ी तो वे घूम-घूमकर चारों ओर ध्यान से उसका पता लगाने लगे। किन्तु बड़ा प्रयत्न करने पर भी उनके कमल कहीं नहीं मिले और वे परेशानी तथा भूख से विचलित होकर अत्यन्त क्रोध से बड़बड़ाते हुए कहने लगे—

—'ऋषियों-मुनियों एवं राजाओं-महाराजाओं के इस समूह में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसके कुल-शील और सदाचार पर सन्देह किया जा सके, किन्तु हम लोगों के सिवा यहाँ कोई अन्य व्यक्ति आया भी नहीं, जो अत्यन्त परिश्रम से संगृहीत मेरे कमलों की ढेरी को चुरा ले गया हो, अत: निश्चय ही आप ही लोगों में से किसी ने मुझे परेशान करने के लिए यह चोरी की होगी। आप लोगों जैसे सज्जन महानुभावों को इस प्रकार कमलों की चोरी करना कदापि उचित नहीं है।'

महर्षि अगस्त्य की वाणी यद्यपि अत्यन्त क्रोध से भरी होने पर भी उनकी तपस्या और साधना के कारण संयत थी तथापि उनकी मुख-मुद्रा और परेशानी को देखकर सभी ऋषि-मुनि एवं राजे-महाराजे अत्यन्त चिन्तित हो गए, क्योंकि उनका क्रोध कभी व्यर्थ होने वाला नहीं होता था और सचमुच यह चोरी अत्यन्त विस्मयजनक थी। सब लोग उदास होकर एक दूसरे का मुंह ताकने लगे कि इसी बीच अगस्त्य पुन: बोले—

—'मुझे ऐसा लगता है कि मेरा अन्तिम समय आ गया है। क्योंकि धर्म को हानि पहुँचाई जा रही है और अस्तेय धर्म का विनाश हो रहा

है। इस संसार में जब इतने बड़े ऋषि-महर्षि चोरी करने लगे हैं तो उचित यही है कि मैं सदा के लिए इस अधम संसार को छोड़ दूँ।

—आप लोग मेरी अवहेलना कर रहे हैं, मुझे नीच समझ रहे हैं, अतः निश्चय ही ऋषियों-मुनियों में भी तमोगुण का प्राबल्य हो गया है। अच्छा है कि ऐसा दुर्दिन देखने के पूर्व ही मैं शरीर त्याग दूँ। क्योंकि इस घटना से यह सिद्ध हो रहा है कि भविष्य में बलवान निर्बलों को, अधार्मिक धार्मिकों को और नीच लोग सज्जनों को परेशान किया करेंगे।'

ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्य ने सचमुच ऐसा विकराल स्वरूप धारण किया जिससे मालूम पड़ने लगा कि वे अपने शरीर-त्याग के निश्चय से किसी भी प्रकार डिगाए नहीं जा सकेंगे। उनका ऐसा कड़ा रुख देखकर सभी ऋषि-मुनि एवं राजे-महाराजे घबरा उठे और अत्यन्त विनम्र स्वर में उनसे प्रार्थना करते हुए बोले—

'महर्षि! हमने आपके कमलों की चोरी नहीं की है, जो आप हम लोगों को झूठा कलंक लगाकर ऐसा कठोर निश्चय कर रहे हैं। हम सभी अपनी-अपनी सफाई देने के लिए कठोर से कठोर शपथ खा सकते हैं और जैसे भी आपको विश्वास और परितोष हो, वह सब करने को तैयार हैं। आप हम लोगों के कमलों को लें अथवा हम सभी मिलकर आपके लिए पुनः कमल एकत्र कर लें? जैसा भी चाहें, आज्ञा दें, किन्तु ऐसा क्रोध न करें और हम सब को ऐसा अपयश न लगाएँ।'

ऋषियों की इस विनम्रता भरी वाणी से महर्षि अगस्तय का प्रचण्ड क्रोध कुछ शान्त हुआ। वे बोले—

—'मैं किसी का कमल नहीं लूंगा और न किसी द्वारा संगृहीत कमलों का उपयोग ही करूँगा। हाँ, आप लोग यदि चाहते हैं कि मेरा सन्तोष-समाधान हो जाय तो उस व्यक्ति को मेरे सामने प्रस्तुत करें जिसने मुझे ऐसी परेशानी में डाला है।'

यह कहकर महर्षि अगस्तय ज्यों ही चुप हुए त्यों ही ऋषियों में

श्रेष्ठ भृगु ने अपने पुत्रों तथा पौत्रों के साथ आगे बढ़कर वह शपथ ग्रहण की—

'मुनिवर अगस्त्य ! जिस व्यक्ति ने आपके कमलों की चोरी की हो वह गाली सुनकर बदले में गाली में जवाब दे या मार खाकर बदले में स्वयं भी मार अथवा दूसरे की पीठ के मांस खाय। अर्थात इन सब पापों का फल उसे भोगना पड़े, जिसने आपके कमल चुराए हों।'

भृगु के अनन्तर महर्षि वसिष्ठ आगे बढ़े और उन्होंने भी अपने वंशजों के साथ यह शपथ ग्रहण की—

—'महर्षि ! जिस नराधम ने आपके कमलों को चुराया हो वह स्वाध्याय से विमुख हो जाय, कुत्ता साथ लेकर शिकार खेलने जाय या गाँव-गाँव भीख माँगता फिरे।'

भृगु और वसिष्ठ के बाद तो सभी ऋषियों-मुनियों और राजाओं-महाराजाओं ने बारी-बारी से अपनी निर्दोषिता के लिए शपथ ग्रहण किया।

यद्यपि आज के युग में इन शपथों का कोई महत्त्व नहीं हैं, क्योंकि साधारणतः जिन कर्मों को इनमें अत्यन्त निन्दित बताया गया है, वे आज के सामाजिक जीवन के अंग से बन चुके हैं तथापि उस युग में ये सभी अत्यन्त गर्हित कर्म थे। इसी दृष्टि से इस शपथ बचनों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

महर्षि कश्यप ने कहा—'जिसने आपका कमल चुराया हो वह जगह-जगह धातुओं का क्रय-विक्रय करे। किसी की धरोहर हड़प लेने का लोभ करे (न कि हड़प ले) अथवा झूठी गवाही दे। महाराज ! मैंने आपका कमल नहीं चुराया है ?'

गौतम ने कहा—'जिस नराधम ने आपके कमल चुराए हों, वह अहंकारी, बेईमान, 'अधमजनों' का संगी-साथी, ब्राह्मण होकर खेती करने वाला और ईर्ष्यालु जीवन व्यतीत करने वाला हो। आपके कमलों को तो मैंने छुआ भी नहीं महामुने !'

अंगिरा बोले—'महामुने ! आपके कमलों की चोरी जिस नराधम

ने की होगी वह निश्चय ही अपवित्र, वेदों का विरोधी, ब्राह्मणों का हत्यारा और अपने पापों का प्रायश्चित्त न करने वाला होगा। निश्चय ही उसे कुत्तों को साथ लेकर शिकार खेलने का पाप लगेगा। मेरा सम्बन्ध आपके कमलों की चोरी से तनिक भी नहीं है।'

फिर राजा धुन्धुमार आगे बढ़े। उन्होने कहा—'महर्षे! आपके कमलों की चोरी किसी कृतघ्न पुरुष ने की है, जो अपने मित्रों का उपकार नहीं मानता है। उस नीच को नीच जाति की स्त्री से सम्बन्ध करने का पाप लगे अथवा अकेले सुस्वादु भोजन करने का पाप लगे। मैं ऐसा गर्हित और अमर्यादित काम नहीं करूँगा अगस्त्य जी!'

राजा पुरु बोले—'महर्षे! आपके कमलों के चोर को चिकित्सा का व्यवसाय करने का पाप लगे। वह स्त्री की कमाई खाए अथवा अपनी ससुराल की सम्पत्ति पर गुजारा करे। मैंने तो अपने जीवन भर में ऐसा कोई काम नहीं किया है।'

दिलीप ने कहा—'महामुने! आपके कमलों की चोरी जिस व्यक्ति ने की हो उसे उस पापी ब्राह्मण के समान मृत्यु के पश्चात् अधोगति भोगनी पड़े, जो गाँव में रहकर शूद्र जाति की स्त्री से सम्बन्ध रखता हो। अथवा सब के साथ कुँए से पानी भरता हो। ऐसा घृणित कर्म करके मैं अपना जीवन क्यों निन्दनीय बनाऊँगा।'

शुक्राचार्य बोले—'अगस्त्य जी! मुझे आपके कमलों की चोरी का बड़ा खेद है। मैं तो कहूँगा कि उस चोर को मांस खाने का, दिन में मैथुन करने का अथवा राजा की नौकरी करने का पाप लगे। मेरा आपके कमलों की चोरी से कोई सम्बन्ध नहीं है।'

महर्षि जगदग्नि ने कहा—'महर्षे! उस नीच व्यक्ति को निषिद्ध समय में अध्ययन करने का, पितरों के श्राद्धादि में केवल अपने मित्रों को भोजन कराने का अथवा स्वयं शूद्र के श्राद्ध में भोजन करने का पाप लगे। मैंने तो आपके कमलों को देखा ही नहीं कि वे कहाँ रखे गए थे।'

राजा शिवि आगे बढ़े। उनकी वाणी बहुत उदास थी और सचमुच

उनके मुखमण्डल पर विषाद की गहरी रेखाएँ उमड़ी थीं। बोले—'महामुने ! जो व्यक्ति आपका कमल चुरा ले गया हो वह अग्निहोत्र विना किए ही मृत्यु को प्राप्त हो, यज्ञ में विघ्न डाले और आप जैसे साधुमना तपस्वियों के साथ विरोध पैदा करे। मैं ऐसा गर्हित कर्म नहीं करूँगा।'

राजा ययाति को भी राजा शिवि के समान ही चिन्ता थी। बोले—'ब्रह्मन् ! जो आपका कमल ले गया वह निश्चय ही ऋतुकाल के अतिरिक्त स्त्री का समागम करने वाला पापी है अथवा वेदों का खण्डन करने वाला है। भला मैं ऐसा पाप कर्म क्यों करने लगा।'

राजा नहुष ने कहा—'मुनिवर ! निश्चय ही वह व्यक्ति उस संन्यासी के समान अधर्मी है जो संन्यास ले लेने के बाद भी घर में रहता है। यज्ञ की दीक्षा लेकर भी काम-चारी है अथवा वेतन लेकर विद्यादान करता है। मैंने ऐसा कर्म नहीं किया है।'

महाराजा अम्बरीष बोले—'अगस्त्य जी ! निश्चय ही वह अत्यन्त क्रूर प्रकृति का व्यक्ति है जिसने आपके द्वारा संगृहीत कमलों की चोरी की है। उसे अपनी स्त्री, बन्धु व बान्धव और गौओं के प्रति अपना कर्तव्य न पालन करने का पाप लगे अथवा ब्रह्महत्या जैसा कठोर पाप लगे। आपके कमलों की चोरी करके मैं ऐसा जघन्य पाप क्यों करूँगा।'

देवर्षि नारद ने कहा—'महामुने ! वह नराधम शरीर को ही आत्मा समझता है, जिसने आपके कमलों को चुराया होगा। उसे शास्त्रों की मर्यादा लंघन करने का पाप लगे। वह वेदों का बिना स्वर पाठ करने का प्रायश्चित्त भोगे अथवा उसे आप जैसे गुरुजनों के अपमान का पाप लगे। भला ऐसा जघन्य कर्म करके मैं अपना दोनों लोक क्यों बिगाड़ूंगा।'

कवि बोले—'अगस्त्य जी ! मैं क्या शपथ ग्रहण करूँ। मैं तो सोचता हूँ कि उस व्यक्ति को गौ को लात मारने का, सूर्य की ओर मुँह

करके मल-मूत्र त्याग करने का अथवा शरणागत को त्यागने का पाप लगे जिसने आपके कमलों को चुराया हो। ऐसा नीच कर्म करके मैं अपनी साधना नहीं नष्ट करूँगा।'

विश्वामित्र ने कहा—'महर्षे! वह चोर व्यक्ति वैश्य की नौकरी करके उसी के खेत से पानी निकाल दे। राजा का पुरोहित बने अथवा जो यज्ञ करने का अधिकारी नहीं है, उसे यज्ञ कराने के लिए ऋत्विज बने। मैं ऐसा गर्हित कार्य भला क्यों करूँगा।'

पर्वत मुनि बोले—'महामुने! आपके कमलों की चोरी करने वाले को वही पाप लगे जो गाँव के मुखिया बनने वाले को मिलता है अथवा जो पाप गधे पर सवारी करने वाले को अथवा पेट भरने के लिए कुत्तों के साथ शिकार करने वाले को लगता है। मेरा सचमुच आपके कमलों की चोरी से कोई सम्बन्ध नहीं है।'

इसके बाद मुनिवर भरद्वाज आगे बढ़े। उन्होंने कहा—'महर्षि अगस्त्य जी! आप व्यर्थ ही हम लोगों पर अपने कमलों की चोरी का सन्देह करते है। मैं तो कहता हूँ कि ऐसा निन्दित कर्म करने वाले को वही सारे पाप लगें जो जीवन भर निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने वाले अथवा असत्यवादी को लगते हैं। मैं सचमुच आपके कमलों की चोरी के बारे में कुछ नहीं जानता।'

राजा अष्टक ने हाथ जोड़कर कहा—'महामुने! मैं अन्यों की बात तो नहीं कहता किन्तु यदि किसी राजा ने आपके कमलों की चोरी की हो तो उस मन्दबुद्धि नराधम को स्वेच्छाचारी एवं पाप-परायण बनकर अधर्मपूर्वक पृथ्वी का शासन करने का महापाप लगे। मैंने कमल नहीं चुराये हैं।'

तदनन्तर गालव सामने आए। उन्होंने शपथ ग्रहण करते हुए कहा—'ऋषिवर! जो नीच व्यक्ति आपका कमल चुराकर ले गया होगा वह महापापियों से भी बढ़कर निन्दा और अपयश का पात्र है। उसे स्वजनों के साथ अपकार करने का तथा दान देकर स्वयं उसका

बखान करने का पाप लगे। मैंने ऐसा पाप कर्म नहीं किया है, आप विश्वास रखें।'

फिर स्त्रियों की ओर से महामुनि वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती ने शपथ ग्रहण की। उन्होंने कहा—'महामुने! जिस स्त्री ने आपके कमलों की चोरी की होगी वह निश्चय ही अपनी सास की निन्दा करने वाली होगी। वह अपने पति के प्रति दुर्भावना रखती होगी और स्वादिष्ट भोजन बनाकर चुपचाप अकेली खा जाती होगी। मैं तो कहूँगी कि उसे इन सभी पापों का समवेत फल मिलेगा।'

बालखिल्य मुनिगण समूह बांध कर सामने आए। उन्होंने कहा—'मुनिवर अगस्त्य जी! जो आपका कमल ले गया हो वह अपनी जीबिका के लिए गाँव के मुख्य द्वार पर एक पैर से खड़ा रहे और धर्म की मर्यादा तथा रहस्य को जानकर भी उसका उल्लंघन करें। हम लोग सचमुच आपके कमलों के बारे में कुछ भी नहीं जानते।

फिर शुनःसख बोले—'अगस्त्य जी! जो आपका कमल ले गया हो वह द्विजन्मा होकर भी सवेरे और शाम को अग्निहोत्र की अवहेलना करके सुख से सोए अथवा संन्यासी होकर मनचाहा बरताव करे। मैं ऐसा निन्दित और शास्त्रविगर्हित व्यवहार नहीं कर सकता।'

सुरभी बोली—'मुनिवर! जिस गाय ने आपका कमल खाया हो उसके पैर बालों की रस्सी से बांधे जायँ, उसके दूध को दुहने के लिए तांबा मिली हुई धातु की दोहनी हो अथवा वह दूसरी गाय के बछड़े से दुही जाय। आप जैसे महामुनि के कमलों की चोरी हम नहीं कर सकतीं।'

इस प्रकार ब्रह्मसरोवर के पावनतट पर अवस्थित सभी प्रमुख ऋषियों, मुनियों, राजाओं तथा अन्य लोगों ने जब महामुनि अगस्त्य जी के सन्तोषार्थ उक्त रीति से शपथ ग्रहण कर लिया तो स्वभावतः अगस्त्य जी का अमर्ष बहुत कुछ शान्त हो गया। उनका उत्तेजित मुखमण्डल अब सौम्य हो चुका था और पहले के रक्त वर्ण के नेत्रों

की लालिमा दूर हो चुकी थी। उनके क्रोध ने अब ग्लानि का रूप धारण कर लिया था और अत्यन्त आश्चर्य के कारण वे यह निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि आखिर वे कमल गए तो कहाँ गए।

अब केवल देवराज इन्द्र शेष बचे थे। उन्होंने प्रसन्न नेत्रों से अगस्त्य जी की ओर देखकर कटाक्ष करते कहा—'महामुने! थोड़े से कमलों के लिए इतने बड़े धर्मात्मा समाज को चिन्तातुर बनाने वाले आप धन्य हैं। मैं तो कहता हूँ, जो व्यक्ति आपका कमल ले गया हो वह ब्रह्मचर्य व्रत को सविधि समाप्त करके आए हुए यजुर्वेदी अथवा सामवेद का अध्ययन सम्यक रूप से समाप्त करके आने वाले ब्राह्मण को अपनी कन्या दान करे अथवा अथर्ववेद या सम्पूर्ण वेदों का विधिवत् अध्ययन करके स्नातक बने, पुण्यात्मा तथा धार्मिक बने और मृत्यु के पश्चात् परम-धर्म द्वारा प्राप्त लोकों में जाय।'

यह कहकर देवराज इन्द्र जब मन्द-मन्द मुस्कराते हुए महर्षि अगस्त्य जी की ओर से दृष्टि हटाकर अन्यान्य ऋषियों-मुनियों आदि की ओर निहारने लगे तो महामुनि अगस्त्य का रहा-सहा क्रोध और अमर्ष भी दूर हो गया। उनका सहज प्रसन्न मुखमण्डल खिल उठा। आनन्दाश्रु से नेत्र गीले हो गए। उनकी वाणी गदगद हो उठी और भावनाओं की तीव्रता से हृदय भर गया। बोले—

'देवराज! आपने जो शपथ ग्रहण की है वह तो आशीर्वाद के समान है, इससे लगता है कि आपने ही किसी कारण वश मेरे कमलों को कहीं छिपाकर रख दिया है, मुझे अत्यन्त ग्लानि और लज्जा आती है कि अपने दुर्विवेक के कारण मैंने इन सब धर्मात्मा-मुनियों और नृपतियों का अनादर किया है, अब आप कृपाकर के बताइए कि मुझे आपने क्यों परेशान किया है और वे मेरे कमल कहाँ हैं?'

देवराज इन्द्र बोले—'भगवन्! मैंने लोभवश आपके कमलों की चोरी नहीं की थी। इतने दिनों से मैं आप सब के साथ था और धरती के स्वर्ग स्वरूप विविध तीर्थों और क्षेत्रों की पावन यात्राएँ कीं। अनेक

प्रकार के व्रतोपवास एवं सत्क्रियाएँ कीं। किन्तु आप लोगों के मुख से धर्म की मर्यादा को स्थिर करने वाली बातें मैं नहीं सुन सका था। इसीलिए मैंने आपके कमलों की चोरी करके ऐसा अवसर उपस्थित किया कि आप सबको ऐसी बातें कहनी पड़ीं, जिनको जानने के लिए मैं बहुत दिनों से लालायित था और जिनके सुनने के लिए इतने दिनों से आप सबके साथ पृथ्वी-प्रदक्षिणा कर रहा था। आज मेरा मनोरथ पूरा हो गया महामुने! अतः आप कृपा करके मुझे क्षमा करें और अपने हृदय से दुर्भावना निकाल दें! यदि मैंने ऐसा न किया होता तो धर्म की महत्त्वपूर्ण मर्यादा का ऐसा सारवान संग्रह मुझे कहाँ से मिलता, जो आज यहाँ मिला है।

आज मैंने आप सब के मुख से उस आर्ष सनातन धर्म का श्रवण किया है जो सदा-सनातन से विकाररहित, अनामय और संसार-सागर से पार उतारने के लिए सेतु के समान है। आप लोगों के इन बचनों से धार्मिक श्रुतियों का उत्कर्ष सिद्ध होता है।'

यह बातें कहकर देवराज इन्द्र ने महर्षि अगस्त्य के साथ वहाँ उपस्थित समस्त ऋषियों-मुनियों से अपनी चोरी के लिए सविनय क्षमा याचना की। और जब सभी ऋषियों ने एक स्वर से उनके महत्-प्रयोजन का अभिनन्दन करते हुए उन्हें सर्वथा निर्दोष बतलाया तो देवराज परम पुलकित हुए। उन्होंने समीपवर्ती वृक्ष की डालों पर छिपा कर रखे गए महर्षि अगस्त्य के कमलों को लाकर उन्हें दे दिया और एक बार पुनः उनसे क्षमा-याचना की।

फिर तो महर्षि अगस्त्य परम प्रसन्न हुए। उन्होंने देवराज इन्द्र को गले से लगाते हुए कहा—

'देवराज! सचमुच आप निर्दोष हैं। आपने इस ब्रह्मसरोवर के पावनतट पर धर्म की जिस महनीय मर्यादा का रहस्य उद्घाटन करने के लिए हम सब को विवश किया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

जो भाग्यशाली व्यक्ति धार्मिक पर्वों के अवसर पर एकाग्रचित्त

होकर इस पवित्र आख्यान का पाठ करता है तथा इसमें वर्णित महनीय मर्यादाओं पर अनुरक्ति रखता है वह कभी मूर्ख-पुत्र को जन्म नहीं देता। उसके अंग कभी हीन नहीं होते और उसके मनोरथ कभी निष्फल नहीं होते। उस पर कोई आपदा नहीं आती, उसकी चिन्ताएँ सदा के लिए नष्ट हो जाती हैं। उस पर जरावस्था का प्रकोप नहीं होता। उसका हृदय रागशून्य हो जाता है और वह इस लोक में सब प्रकार का कल्याण-भाजन बनकर मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग-लोक में निवास करता है।

अधिक क्या कहें। देवराज! ऋषियों द्वारा सुरक्षित इस धर्म-मर्यादा का अध्ययन करने वाला व्यक्ति अविनश्वर ब्रह्मधाम को प्राप्त करता है।'

उत्तंक की गुरु-दक्षिणा

मुनिवर धौम्य (आयोद धौम्य) के शिष्य वेद ने जब अपना अध्ययन समाप्तकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर अपना आश्रम प्रतिष्ठित किया तो थोड़े ही दिनों में उनकी धाक चारों ओर छा गई। उनकी अगाध विद्वत्ता, क्षमाशीलता, सौजन्य और पर-हित-चिन्ता की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। उनकी जिस एक विशेषता के कारण सब लोग बड़ी इज्जत करते थे वह थी अपने शिष्यों के प्रति पुत्र के समान सहज वत्सलता और निष्कपट स्नेह-भावना। वह अन्य आचार्यों की भाँति अपने शिष्यों के प्रति अत्यन्त कठोर अनुशासन नहीं रखते थे और सब के साथ अत्यन्त प्रेम से बोलते और मृदु व्यवहार करते थे।

छात्रावस्था अथवा नवयौवन मनुष्य के समग्र जीवन का प्रवेश-द्वार है। उसमें अवस्थित प्रत्येक नवयुवक का हृदय अत्यन्त उमंगों, उत्साहों और भविष्य की कल्पनाओं का आगार होता है। विचारों की अपेक्षा भावनाओं का प्राबल्य अधिक होने के कारण प्रायः अनुशासन-हीनता का होना छात्रजीवन में स्वाभाविक-सा है। किन्तु प्राचीनकाल में गुरुकुलों अथवा आचार्यों के आश्रमों का जीवन आचार-विचार और चरित्र की मर्यादाओं से इतना सुसंगठित होता था कि फौलादी ढाँचे के समान उसमें से ढलकर निकले हुए उद्दण्ड से उद्दण्ड छात्र भी आर्यजाति के समुज्ज्वल आदर्शों एवं संस्कारों के मूर्तमान प्रतीक बन जाते थे। उन्हें वेदों और शास्त्रों के सम्यक् अध्ययन-अध्यापन के साथ मानव जाति के ही नहीं जीवमात्र के जीवन को सब प्रकार से सुखमय, शान्त और निरापद बनाने के लिए सत्य, अहिंसा, परोपकार त्याग, तपस्या, अस्तेय, अपरिग्रह, परदुःखकातरता, सहानुभूति, इन्द्रिय-दमन एवं सर्वभूतहितेरति की भावना में इतना डुबो दिया जाता था कि

उनकी स्वार्थ की कल्पना ही समाप्त हो जाती थी और त्याग तथा उत्सर्ग को ही जीवन का मुख्य लक्ष्य मानकर वे चलने लगते थे।

गुरुकुलों में अपने ही समान जीवमात्र के सुखदुःख का अनुभव करने की प्रतिक्षण शिक्षा दी जाती थी, जिससे आश्रमों का वातावरण इतना पवित्र होता था कि उसका प्रभाव सर्वसाधारण जनता पर पड़ता था। परोपकार तो उस युग का कर्तव्य था, क्योंकि आचार्य लोग जीवन भर विना कुछ लिए ही ज्ञान के रत्न-दीप की भाँति अपनी किरणों से लोकान्धकार को दूर करने में ही अपने जीवन की चरितार्थता समझते थे। शरीर और संसार के सुखों और स्वादों की अनित्यता के प्रत्यक्ष से तपस्या और साधना ही उस युग के मनीषियों का ध्येय बन जाता था। और सत्य तो मानों उस युग के जीवन के प्रत्येक कर्तव्यों की माला गूंथने का पवित्र धागा था। उसके बिना जीवन और जगत का कोई कार्य-विधान चलता ही नहीं था।

यही सब कारण था कि उस युग में आचार्यों अथवा कुलपतियों को अपने आश्रमों की मर्यादा और अनुशासन-प्रियता का ध्यान सर्वोपरि रखना पड़ता था। वे अपने छात्रों के चरित्र और विद्या दोनों पर समान ध्यान देते थे और छात्रजीवन के आरम्भ में ही देख लेते थे कि यदि किसी छात्र की रुचि विद्याध्ययन की ओर अधिक नहीं है तो उससे गृहस्थी का कार्य लेते थे और धीरे-धीरे विद्याध्ययन की ओर उसकी सहज रुचि उत्पन्न करते थे। जिस छात्र को देखते थे कि वह परिश्रमी नहीं है और शरीर के सुखों और ऐन्द्रिक स्वादों पर अधिक ध्यान देता है तो उससे धीरे-धीरे ऐसे काम लेते थे कि वह आगे चलकर कठोर परिश्रमी और तपस्वी हो जाता था। इस कार्य में कभी-कभी आचार्यों को अप्रिय भी बनना पड़ता था, किन्तु उनके ऐसे आचरण की कभी आलोचना नहीं होती थी, क्योंकि सब लोग जानते थे कि उनके कठोर अनुशासन के फलस्वरूप ही देश की भावी पीढ़ी में उत्तमोत्तम संस्कारों की जड़ जमाई जा सकेगी।

उस युग के आचार्यों में महर्षि आयोद धौम्य की कठोर अनुशासन प्रियता सर्व-प्रसिद्ध थी। मुनिवर वेद उन्ही के शिष्य थे। यद्यपि वेद के साथ उनका व्यवहार सर्वदा अत्यन्त मधुर रहा और गुरु की ओर से कभी वह किसी कठोर परीक्षा में नहीं डाले गए, तथापि स्वयं वेद ने जिस प्रकार से अपने गुरु की सेवा और उनकी वृद्धावस्था में उनके आश्रम के सभी कार्यों की व्यवस्था की थी, वैसा बहुतेरे कम शिष्यों ने किया था। आश्रम के छोटे-मोटे कामों से लेकर वेद-वेदांगों के विधिवत अध्यापन का भी कार्य वह एक साथ करते थे। स्वयं आश्रम के खेतों और बाग बगीचों में काम करते थे और जब तब गुरु की शारीरिक सेवा-शुश्रूषा भी करते थे। अतः जब वेद ने अपना आश्रम संचालित किया तो उसमें छात्रों के साथ अत्यन्त सहृदयता, वत्सलता तथा स्नेह-भावना का प्रिय सम्बन्ध रखा। वे अपना सब काम-काज स्वयं करते थे और अपने शारीरिक कार्यों के लिए किसी भी शिष्य की कोई सेवा स्वीकार नहीं करते थे। सैकड़ों-सहस्रों आज्ञाकारी छात्रों के होते हुए भी वह अपने खेतों और बाग-बगीचों का काम स्वयं अपने हाथों निपटा देते थे और छात्रों से स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, स्वास्थ्य-रक्षा एवं आचार-विचार की पवित्रता से सम्बन्धित कार्यों के अतिरिक्त कोई अन्य काम नहीं लेते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि देश के प्रत्येक अंचल से आने वाले छात्रों की सर्वाधिक भीड़ मुनिवर वेद के आश्रम में आने लगी और थोड़े ही दिनों के बाद उनका आश्रम देश के अन्य आश्रमों की अपेक्षा सुप्रसिद्ध हो गया। उनकी विद्वत्ता, सरलता, सहानुभूति एवं छात्रों के संग निष्कपट स्नेहभावना की प्रसिद्धि सुन-सुनकर अन्य आश्रमों के छात्र भी उन के अन्तेवासी बनने के लिए लालायित होने लगे।

किन्तु मुनिवर वेद इतने निरभिमानी, उदारचेता और सरल प्रकृति के थे कि स्वल्पकाल में ही अपने आश्रम की इस प्रतिष्ठा को वे अपने गुरु महर्षि धौम्य के आशीर्वाद का सुफल मानते और प्रतिदिन बड़ा

भक्ति और श्रद्धा से अपने गुरु के गुणों का वर्णन करते हुए न अघाते। उनकी इस अटूट गुरुभक्ति का प्रभाव अप्रत्यक्ष रीति से उनके शिष्यों के हृदय पर भी पड़ता और वे सब भी मुनिवर वेद के प्रति निष्ठा और भक्ति रखते।

मुनिवर वेद का यद्यपि अपने सभी शिष्यों पर समान स्नेह था तथापि उत्तंक नामक एक परम तेजस्वी ऋषिकुमार के प्रति उनके हृदय में अधिक खिचाव था। ऋषिकुमार उत्तंक था भी ऐसा ही। उसका स्वरूप देवताओं के समान सहज सुन्दर तथा आकर्षक था। सुवर्ण के समान गौरवर्ण उसके अति चपल शरीर के अंग-प्रत्यंग सुन्दरता के अनूठे नमूने की भाँति थे। बालसूर्य के समान तेजस्वी उसके मुखमण्डल पर कमलदलायत नेत्रों की निराली छटा थी। वह कभी उदास नहीं देखा गया और न किसी प्रसंग पर उसे किसी ने उत्तेजित ही पाया। उसकी बुद्धि एवं प्रतिभा भी निराली थी। जो विषय अन्य अन्तेवासियों के लिए एक-दो सप्ताह में हृदयंगम करने योग्य होता उसे उत्तंक एक-दो दिन में ही आयत्त कर लेता। और गुरु तथा गुरुपत्नी के आदेशों अथवा संकेतों के लिए तो जैसे वह बेचैन रहता था। वेद के अनेक बार निषेध करने पर भी वह प्रतिदिन उनके स्नान एवं पूजन के उपकरणों को एकत्र करने से न चूकता। उनके संग कृषि एवं बाग वाटिका के कामों में भी वह हाथ बंटाता और सब से अधिक आश्रम की सुव्यवस्था एवं हितचिन्ता में आतुर रहता।

आचार्य वेद के समान आचार्य-पत्नी भी उत्तंक पर अपने पुत्र के समान सहज स्नेह की वर्षा करती ही रहतीं। स्वाध्याय एवं अध्ययन में अत्यन्त पटु होने के कारण उत्तंक के सहाध्यायी भी उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते और प्रत्यक्ष हो या परोक्ष उसकी बुद्धि एवं सत्कर्म-निष्ठा की प्रशंसा करते रहते।

इस प्रकार आचार्य वेद के आश्रम में उत्तंक का अध्ययन अत्यन्त उत्साह एवं उल्लास के वातावरण में जब सम्पूर्ण हो गया और वेद की

दृष्टि में वह वेद-वेदांगों का पारगामी विद्वान बन गया तो एक दिन वेद ने उसके दीक्षान्त उत्सव की चर्चा करते हुए उसे शीघ्र ही अपने गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की पूर्व सूचना दी। आश्रम के अपने अन्य सहाध्यायियों की भाँति उत्तंक को भी अपनी गृहस्थी बसाने की पूर्व चिन्ता नहीं थी—यह बात नहीं। वह भी अपने उत्तरकाल के जीवन के लिए कल्पनाशील था, किन्तु अपने आचार्य तथा आचार्यपत्नी का वह इतना प्रिय-पात्र था कि उन्हें छोड़कर अपने पिता के घर वापस जाने का उसका मन नहीं करता था। वह सोचता था, इतने दिनों तक पिता और माता के समान जिनके चरणों में बैठकर मैंने अपना अध्ययन समाप्त किया है, उन्हें मनचाही गुरु-दक्षिणा दिए बिना मेरा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना उचित नहीं है। निदान एक दिन एकान्त पाकर उसने अपने आचार्य वेद से विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हुए कहा—

'आराध्य गुरुदेव! मेरी धृष्ठता क्षमा की जाय। मैं आपसे कुछ निवेदन करने के लिए कई दिनों से सोच रहा था। मैं चाहता हूँ, आपको गुरु-दक्षिणा चुकाकर ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करूँ। क्योंकि इतने दिनों तक आपके चरणों में बैठकर जिस ज्ञान-गंगा का अवगाहन करता रहा हूँ, वह दक्षिणा चुकाए बिना मेरी तृप्ति नहीं कर सकेगी। अतः मुझ पर आपका परम अनुग्रह होगा कि अपने मन से आप मेरे लिए कोई गुरु-दक्षिणा जुटाने का आदेश दें।'

वेद सहज उदार एवं निर्लोभी आचार्य थे। उन्होंने उत्तंक के सिर पर अपना दाहिना हाथ फेरते हुए स्नेह भरी वाणी में कहा—'वत्स! इतने दिनों तक मेरे आश्रम में रहकर तुमने मेरी और आश्रम की जो विविध सेवाएँ की हैं, उन्हें ही मैं तुम्हारी उत्तम गुरुदक्षिणा मानता हूँ। तुम जानते हो कि मुझे भौतिक सुख-समृद्धियों के प्रति कोई अनुरक्ति नहीं है। आश्रम और परिवार को चलाने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है उनका प्रबन्ध कहीं न कहीं से हो ही जाता है, अतः मैं किसी अन्य वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहता। मेरा हार्दिक

आशीर्वाद है कि इतने दिनों तक अनन्य निष्ठा और परिश्रम से अधीत तुम्हारी विद्या यशस्विनी बने। मैं तुमसे कोई गुरुदक्षिणा नहीं चाहता आयुष्मन्।'

उत्तंक का मुख उदास हो गया। उसकी प्रसन्नता विलुप्त हो गई। वह अपने गुरु के स्वभाव से सुपरिचित था कि किसी विषय पर उनके निश्चित विचारों में परिवर्तन कराना असम्भव है। किन्तु अपने प्रति उनके सहज स्नेह को भी वह जानता था। अतः फिर हाथ जोड़कर बोला—

'गुरुदेव! मैंने संकल्प कर लिया है कि जबतक कोई गुरुदक्षिणा नहीं दूँगा, तबतक अपनी गृहस्थी बसाने के लिए पिता के आश्रम को वापस नहीं जाऊँगा। और मैं यह भी जानता हूँ कि आप अपने निश्चयों से नहीं डिगेंगे, किन्तु आपने यह भी एक दिन बताया था कि अपने पुत्र अथवा शिष्य की कल्याण-कारिणी इच्छाओं का कभी विघात न करना प्रत्येक पिता या गुरु का कर्तव्य है। अतः मैं आपसे पुनः अपना आग्रह दुहराने की धृष्टता करूँगा कि आपको मुझसे कोई न कोई गुरुदक्षिणा तो लेनी ही पड़ेगी। और एक बार मेरे आग्रह पर आपने गुरुदक्षिणा के बारे में बतलाने का वचन भी दे रखा है।'

वेद कुछ क्षणों के लिए चुप हो गए। उत्तंक के इस विनयपूर्ण आग्रह को ठुकराने का उन्हें उत्साह नहीं हुआ। क्योंकि बहुत दिनों पूर्व सचमुच एक प्रसंग में उत्तंक को गुरुदक्षिणा बताने का वचन उन्होंने दे रखा था। मधुर वाणी में उसकी उदासी को दूर हटाने की चेष्टा करते हुए वह बोले—

'वत्स उत्तंक! यदि ऐसा ही निश्चय तुमने कर रखा है तो जाकर अपनी आचार्या (गुरुपत्नी) से अपनी इच्छा का निवेदन करो। उन्हीं को यदि किसी वस्तु की आवश्यकता होगी तो तुम उसे लाकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लेना। किन्तु मेरी ओर से तुम्हें शतशः आशीर्वाद है कि जिस श्रद्धा, निष्ठा, साधना और सेवापरायणता के साथ इतने दिनों

तक तुमने मुझसे विद्या प्राप्त की है, वह सर्वांशतः सफल और यशस्विनी हो ! तुम्हारा सब प्रकार से कल्याण हो वत्स !'

उत्तंक गुरु-चरणों पर शीश रखकर गुरुपत्नी के पास चल पड़ा। आचार्य द्वारा अपने आग्रह की रक्षा होने के कारण अत्यन्त हर्ष से उसका मुख-कमल पुनः विकसित हो गया था और आनन्दाश्रुओं की छलक से उसके कमलदल के समान सुशोभित नेत्र गीले हो गए थे। उसके अंग-प्रत्यंग में बिजली के समान स्फूर्ति दौड़ गई थी और अपने सौभाग्य पर वह उस क्षण फूला नहीं समा रहा था।

आचार्य वेद की पत्नी अपने पति के अपरिग्रही स्वभाव के सर्वथा विपरीत थीं। यद्यपि जीवन भर उन्हें अपने पति आचार्य वेद के साथ अनेक अभावों और कठिनाइयों से भरी गृहस्थी बितानी पड़ी थी और प्रकट रूप से वह भी सांसारिक सुख-साधनों की ओर से अपनी अरुचि दिखाती रहती थीं तथापि उनका अन्तर्मन कभी-कभी स्त्री-सुलभ संग्रह-भावना के कारण विद्रोह कर बैठता था। किन्तु सैकड़ों सहस्रों छात्रों से भरे अपने पति के आश्रम में अपनी किसी हार्दिक अभिलाषा को वाणी में प्रकट करने का साहस वह नहीं कर सकती थीं। क्योंकि बाह्य संसार में उनके पति एवं उनके आश्रम की जो अपार प्रतिष्ठा थी, उसमें उनके पति का तितिक्षापूर्ण जीवन और उदारता ही कारण थी—इसे वह भी जानती थीं।

जब कभी उन्हें आश्रम में या आश्रम से बाहर सम्पन्न राजघरानों की स्त्रियों के साथ उठने-बैठने या बातें करने का अवसर लगता तो उनका ध्यान उन स्त्रियों की उन वस्त्र-भूषा पर विशेषरूप से रहता और वे मन मसोस कर रह जातीं कि इस जीवन में उन्हें ऐसे वस्त्राभूषणों को पहनने ओढ़ने का अवसर कभी नहीं मिल सकेगा।

एक बार राजा पौष्य की स्त्री आचार्य वेद के आश्रम में आई थीं और वह अनेक बहुमूल्य रत्नाभूषणों से अलंकृत थी। उसका बहुमूल्य मकराकृति कुण्डल इतना मनोहर था कि उसे देखकर आचार्य-पत्नी

के मन में उसी प्रकार का कुण्डल पहनने का लोभ पैदा हो गया था, किन्तु आचार्य वेद की जीवनसंगिनी होने के कारण वह प्रकटतः कुछ कह नहीं सकीं थीं। जबतक राजा पौष्य की पत्नी महर्षि वेद के आश्रम में मौजूद रहीं, आचार्यपत्नी का चित्त उनके कुण्डलों पर ही लगा रहा और उनके चले जाने के बाद भी वह बहुत दिनों तक अपने लिए भी वैसा ही कुण्डल प्राप्त करने की बात सोचती रहीं। इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद उत्तंक और वेद के बीच गुरुदक्षिणा के प्रश्न पर उक्त चर्चा हुई थी।

संयोगात् अपने आचार्य वेद के कहने पर उत्तंक जिस समय अपनी गुरु-पत्नी के समीप उनकी मनचाही गुरुदक्षिणा की बात पूछने के लिए गया, उस समय आचार्यपत्नी राजा पौष्य की पत्नी के उन्हीं कुण्डलों के बारे में ही सोच रही थीं। अतः उत्तंक के सविनय अनुरोध करने पर उन्होंने अपने लिए तत्काल राजा पौष्य की पत्नी के कुण्डलों के समान अथवा वे ही कुण्डल लाने की इच्छा प्रकट की। और यह भी कहा कि तीन दिनों बाद व्रत के उद्यापन के अवसर पर उन्हें पहनकर मैं ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहती हूँ। यदि उक्त अवसर तक तुम उन्हें ला सको तो तुम्हारा परम कल्याण होगा। अन्यथा तुम कष्ट पाओगे।

इधर ऋषिकुमार उत्तंक में इतना प्रगाढ़ आत्मविश्वास तथा ऐसा उद्दाम साहस भरा था कि गुरुपत्नी के मुख से उक्त कुण्डल की चर्चा सुनकर वह निहाल हो उठा और तत्काल उनका आशीर्वाद लेकर कुण्डल को प्राप्त करने के लिए गुरु के आश्रम से चल पड़ा। सर्वप्रथम उसे राजा पौष्य की रानी के उक्त कुण्डल का आकार-प्रकार देखना था, क्योंकि विना उसे देखे हुए उसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी। वह यह भी सोचता था कि यदि स्वयं राजा पौष्य ही अपनी रानी से उक्त कुण्डल दिलवा दें तो सब झंझट पार हो जायगा और तीन दिनों के भीतर ही मैं गुरुपत्नी को गुरुदक्षिणा देकर अनृण हो जाऊँगा।

अपने आश्रम से चलकर उत्तंक जब कुछ आगे बढ़ा तो उसने विचार किया कि राजधानी में आज ही पहुँच जाना चाहिए और आज ही राजा पौष्य से मिल भी लेना चाहिए, जिससे तीन दिनों के भीतर ही आचार्य के आश्रम को वापस लौट आऊँ। फलतः वह बिना कुछ खाए पिए ही राजधानी को जाने वाले राजपथ पर वायु वेग से चल पड़ा। उस दिन वह जप-तप और पूजा-पाठ भी कुछ नहीं कर सका, क्योंकि इनके झंझटों में पड़ने पर विलम्ब होने का भय था। वह मार्ग भर उन कुण्डलों की चिन्ता में इतना निमग्न था कि तीन योजन मार्ग की दूरी कब समाप्त हो गई, उसे इसका ध्यान भी नहीं रहा। अब वह ऐसे स्थान पर आ गया था कि वहाँ से राजधानी का गोपुर स्पष्ट दिखाई पड़ता था। अभी सूर्य दक्षिण दिशा से पश्चिम की ओर उन्मुख हो रहा था, जिसे देखकर उत्तंक को परम प्रसन्नता हुई।

इसी बीच एक अद्‍भुत घटना हुई। राजमार्ग के मध्य में एक अति विशालकाय सांड़ पर बैठा हुआ एवं दैवी आकृति का पुरुष उसे दिखाई पड़ा, जिसने अपने अनुपम शरीर और तेज के कारण उत्तंक को तत्क्षण आतंकित कर दिया। वैसा दिव्य पुरुष और वैसा विशाल सांड़ उत्तंक ने अभी तक कभी नहीं देखा था। कुछ ठिठकते हुए उत्तंक जब उसके कुछ समीप पहुँच गए तो वह सांड़ पर बैठा हुआ दिव्य पुरुष बोला—

'ऋषिकुमार उत्तंक! वह तुम्हारे सामने जो हमारे सांड़ का गोबर पड़ा है, उसे उठाकर उसमें से थोड़ा-सा तुम्हें खाना पड़ेगा।'

इस पुरुष की वाणी क्या थी, मानों भयंकर मेघों की गर्जना थी। उसके स्वर में आदेश भरा हुआ था, और उसकी मुद्रा अत्यन्त कठोर थी। किन्तु उत्तंक भी कम तेजस्वी नहीं था। नितान्त निर्जन राजमार्ग पर दिन-दहाड़े इस प्रकार की अपूर्व घटित और अप्रत्याशित घटना से वह तनिक विचलित तो हुआ, किन्तु धैर्य बाँध कर कुछ भयभीत स्वर में बोला—

'वाह ! आपने ऐसी अनुचित बात कह दी है, जिसका पालन मैं कभी नहीं करूँगा।'

पुरुष हँसते हुए बोला—'ऋषिकुमार ! लगता है तुम बहुत डर गए हो। डरो मत ! इसे खा लो, क्योंकि तुम्हारे गुरु आचार्य बेद ने भी इसे एक बार खाया था।'

उत्तंक निरुत्तर और आश्वस्त हो गया। वह समझ गया कि सम्भव है यह इस राजधानी में प्रवेश करने का नियम हो। उसने झट तनिक सा गोबर उठाकर खा लिया और फिर आचमनादि करके आगे बढ़ गया। उसे कुण्डल-प्राप्ति की इतनी अधिक चिन्ता थी कि इस घटना को मानो भूल-सा गया और आगे जाने वाले कार्यों को सोचने में व्यस्त हो गया।

कुछ क्षणों में ही ऋषिकुमार उत्तंक राजा पौष्य की राजधानी में जब पहुँचा तो उसे राजा पौष्य से मिलने में कोई कठिनाई नहीं हुई। क्योंकि राजा पौष्य ऋषियों मुनियों के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति रखता था और उनके लिए उसका कुछ भी अदेय नहीं था। उसे जब आचार्य वेद के अन्तेवासी के रूप में ऋषिकुमार उत्तंक के पहुँचने की सूचना दी गई तो उसने स्वयं उठकर उत्तंक की अगवानी की और कुशल-क्षेम पूछने के अनन्तर राजोचित-अर्घ्य-पाद्यादि समर्पित कर उससे आगमन का प्रयोजन पूछते हुए कहा—

'ऋषिकुमार ! यद्यपि मैं जानता हूँ कि आचार्य वेद के आश्रम में रहने के कारण आप जैसे तपस्वी ऋषिकुमार को संसार की किसी भी वस्तु का प्रयोजन नहीं है, जिसके लिए आपने इतनी दूर आने का कष्ट किया होगा तथापि सामान्य शिष्टाचरण के नियमों से बंधा होने के कारण मैं आपके आगमन का प्रयोजन पूछ रहा हूँ, जिसके लिए कृपाकर क्षमा करेंगे। यह तो मेरे लिए परम सौभाग्य की बात होगी यदि आप कृपा-पूर्वक मुझे अपनी इच्छा पूर्ति का साधन बनाएँगे।'

उत्तंक कुछ क्षण तो चुप रहा, क्योंकि राजा पौष्य का कथन यथार्थ

था। संसार भर में उसके आचार्य वेद एवं उनके आश्रमवासियों की निःस्पृहता सुप्रसिद्ध थी। किन्तु स्वयं उसी के अभिनिवेश के कारण गुरुदक्षिणा के प्रश्न को लेकर जो जटिल समस्या उसके सामने उठ खड़ी हुई थी, उसका समाधान राजा पौष्य के सिवा और कोई दूसरा कर भी नहीं सकता था। निरुपाय वह विनयभरी वाणी में बोला—

'राजन्! आप जैसे परोपकार-परायण एवं नीति कुशल राजाओं के शासन-प्रबन्ध की पटुता का ही यह परिणाम है, जो हमारे पूज्य आचार्य का आश्रम निर्विघ्न चलता रहता है। उनकी निःस्पृहता में आप जैसे त्यागी एव यज्ञपरायण नृपतियों को ही मैं कारण मानता हूँ, क्योंकि बिना किसी याचना और अभिलाषा को प्रकट किए ही आप लोग आश्रम की सभी कठिनाइयों का सदैव निराकरण करते रहते हैं। मेघ गण यदि समय-समय पर वृष्टि न करते रहें तो धरती का सुख-सौन्दर्य कैसे टिका रह सकता है।

किन्तु महाराज! आज तो मैं एक विशेष प्रयोजन लेकर आपके पास आया हूँ। मेरे ही दुराग्रहों के कारण मुझे ऐसा करना पड़ रहा है, किन्तु इसके लिए मुझे कोई लज्जा भी नहीं है, क्योंकि सनातन काल से आचार्यों को यथेष्ट गुरुदक्षिणा देने का जो दुर्वह भार कभी-कभी अन्तेवासियों के कन्धों पर पड़ता है, उसे सदैव आप जैसे राजाओं ने ही उठाया है।

राजन्! मुझे अपनी आचार्यपत्नी को प्रसन्न करने के लिए महारानी के कुण्डलों के समान कुण्डल चाहिए, क्योंकि उनकी यही अभिलाषा है।'

राजा पौष्य को उत्तंक की इस बात से थोड़ा विस्मय हुआ। क्योंकि अभी तक आचार्य वेद और उनके आश्रम की निर्लोभिता के सम्बन्ध में ही वह सुनते आए थे। किन्तु शिष्य के दुराग्रह से अप्रसन्न गुरु-जनों द्वारा कभी कभी दुर्लभ गुरुदक्षिणा चुकाने की कथाएँ भी उन्हें ज्ञात थीं। उन्होंने अनुमान लगा लिया कि उत्तंक की गुरुदक्षिणा के मूल में भी उनका कोई दुराग्रह ही रहा होगा। वह बोले—

'ऋषिकुमार ! इस धरती पर महारानी के कुण्डलों के समान अन्य कुण्डलों का बनवाना तो सर्वथा असम्भव है, किन्तु आप महारानी के कुण्डलों द्वारा ही अपनी गुरुपत्नी को प्रसन्न कर सकते हैं। आप हमारे अन्तःपुर में जाकर स्वयं रानी से ही कुण्डलों की याचना करें। मुझे विश्वास है कि वे आपको इनकार नहीं करेंगी। और यदि मैं स्वयं उनसे कुण्डलों को देने की बात करूँगा तो सम्भव है अत्यन्त प्रिय आभूषण होने के कारण उन्हें देने में कुछ कष्ट हो।'

राजा की आज्ञा प्राप्तकर उत्तंक अन्तःपुर में जब स्वयं प्रविष्ट हुआ तो बहुत प्रयत्न करने पर भी उसे कहीं महारानी का दर्शन नहीं हो सका। इस पर उसे थोड़ा खेद हुआ। उसने सोचा, सम्भव है, राजा ने धोका देने के लिए मुझे अन्तःपुर में भेज दिया हो। वह तत्काल अन्तःपुर से निकलकर पुनः राजा के समीप पहुँचा और बोला—

'राजन् ! लगता है, आप मुझे कुण्डल देना नहीं चाहते। यदि ऐसा ही है तो मुझे स्पष्ट बता दीजिए और व्यर्थ में इधर-उधर न दौड़ाइए। मुझे बहुत प्रयत्न करने पर भी अन्तःपुर में महारानी का कहीं पता नहीं लग सका।'

राजा पौष्य मुस्कराते हुए बोले—'ऋषिकुमार ! मैं आपको धोका नहीं दे रहा हूँ। लगता है, आपका मन अथवा शरीर अपवित्र है जो आप महारानी को नहीं देख सके। बात यह है कि महारानी इतनी पवित्र एवं पुण्यात्मा हैं कि कोई अपवित्र मनुष्य उन्हें देख भी नहीं सकता। आप निश्चय ही किसी न किसी प्रकार से अपवित्र हो गए हैं।'

अब उत्तंक को मध्य राज-मार्ग पर अवस्थित उस दिव्य पुरुष और साँड़ से सम्बन्धित घटना का स्मरण हुआ कि अत्यन्त शीघ्रता के कारण सांड़ का गोबर खाने के बाद मैंने विधिवत् हाथ-पैर धोकर आचमन नहीं किया था और न आज की नियमित पूजा-अर्चा ही सम्पन्न की थी। उसने राजा से सब बातें बताकर तत्क्षण विधिवत् हाथ-पैर धोकर आचमन किया और अपना नियमित पूजा-पाठ समाप्त करके अपने शरीर और चित को

स्वस्थ किया। फिर वह राजा पौष्य की रानी के पास गया। इस बार सचमुच उसे महारानी दिखाई पड़ीं, जो अपनी दासियों के बीच में बैठकर किसी धार्मिक विषय पर चर्चा कर रही थीं।

उत्तंक को देखते ही महारानी उठकर खड़ी हो गईं और उत्तंक का अर्घ्यपाद्यादि से विधिवत् स्वागत-समादर किया और इसके अनन्तर उसके आगमन का प्रयोजन पूछा। उत्तंक ने अपना मन्तव्य ज्यों ही कह सुनाया, त्यों ही महारानी ने बिना कुछ सोच-विचार किए ही उक्त कुण्डल उतार कर उसके हाथों पर रख दिया और बोलीं—

'ऋषिकुमार ! ये कुण्डल इस धरती पर अत्यन्त दुर्लभ हैं। अतः इन्हें आप बहुत सहेज कर ले जायँगे। तक्षक नामक नाग इसके पीछे बहुत दिनों से पड़ा हुआ है। मेरा अनुमान है कि वह तुम्हें भी घेरेगा। अतः बड़ी सावधानी से इसे लेकर वापस लौटना। कहीं ऐसा न हो कि वह तुम्हें किसी प्रकार ठग ले और कुण्डल हड़प ले।

उत्तंक का साहस अवर्णनीय था। अपनी विद्या, प्रतिभा और शारीरिक शक्ति का भी उसे अडिग विश्वास था। मुस्कराते हुए बोला—रानी ! इस सम्बन्ध में आप तनिक भी चिन्ता न करें। तक्षक मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। और मैं अकेला होकर भी अनेक तक्षकों का सामना कर सकता हूँ देवि !'

महारानी को यह आश्वासन देकर और राजा पौष्य के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करके मुनिकुमार उत्तंक अपने गुरु के आश्रम की ओर वायु-वेग से जब वापस हुआ तो उसने यही निश्चय किया कि राजधानी से लेकर गुरु के आश्रम तक न तो वह किसी व्यक्ति से बातें करेगा और न कहीं बैठेगा। किन्तु राजमार्ग पर आगे बढ़ते हुए जब उसे एक मनोहर सरोवर दिखाई पड़ा तो उसकी प्राकृतिक छटा देखकर वह अपने संकल्पों को भूल गया। उस सरोवर के चतुर्दिक पुष्पों और फूलों से लदे हुए वृक्षों की पंक्तियाँ थीं, जिन पर रंग-विरंगे पक्षी कलरव कर रहे थे। उन वृक्षों पर रंग-विरंगे पक्षी एवं पुष्प-स्तवकों से लदी लताएँ एवं बल्लरियाँ

थीं, जिन पर भ्रमर-वृन्द गुंजार कर रहे थे। सरोवर का जल अत्यन्त निर्मल और शीतल था, और उसमें विविध प्रकार के कमल खिले हुए थे। उसमें सारसादि पक्षी तैर रहे थे और वह धरती पर उस नीलाकाश के एक खण्ड की भाँति शोभा दे रहा था, जिसमें उज्ज्वल तारागणों के साथ नीले-पीले और रक्त वर्ण के नक्षत्र विराजते हों।

प्रकृति की इस मनोहारिणी छटा को देखकर ऋषिकुमार उत्तंक को अपने पर काबू नहीं रहा और उन्हें यह ध्यान भी नहीं रह गया कि यात्रा के आरम्भ में उन्होंने मार्ग भर में कहीं न बैठने का संकल्प ले रखा है। निदान सरोवर के मनोहर तट पर बैठते ही उन्हें उसमें स्नान करके अपनी थकान मिटाने की बलवती इच्छा हुई और वह तत्काल रानी के कुण्डलों को अपने वल्कल वस्त्रों के साथ तटपर रखकर सरोवर में स्नानार्थ कूद पड़े। सरोवर का जल अत्यन्त शीतल, निर्मल और सुस्वादु था। फलतः मुनिकुमार उत्तंक उसमें स्नान करते समय इतने आत्मविस्मृत हो गए कि उन्होंने अपने वस्त्र के समीप आते हुए एक क्षपणक (बौद्ध संन्यासी) को तो देखा, किन्तु उसे देखकर भी स्नान में लीन रहे। उक्त क्षपणक ने आने के साथ ही रानी का कुण्डल ले लिया और जिधर से आया था उसी ओर बड़ी तेजी से भाग चला। उसे भागते देखकर उत्तंक को महारानी की बात याद पड़ी और वह सरोवर की जलराशि से बिजली के वेग के समान भागकर जब तट पर पहुँचे तो देखा कि सचमुच उनके वल्कल वस्त्रों के पास महारानी के वे कुण्डल नहीं हैं।

पश्चात्ताप में समय गँवाना व्यर्थ समझकर उत्तंक ने बड़ी तेजी से उस क्षपणक का पीछा किया, किन्तु वह बहुत आगे बढ़ चुका था। फिर भी उत्तंक ब्रह्मचारी थे। उनके शरीर में अद्‌भुत तेजस्विता और स्फूर्ति थी। उन्होंने थोड़ी ही देर में क्षपणक को पकड़ लेने में सफलता प्राप्त कर ली। और यह समीप ही था कि उत्तंक अपने हाथों की पकड़ में उस क्षपणक को घसीट कर दबोच लेते कि दुर्भाग्यवश उक्त क्षपणक क्षणभर में ही सामने की एक बिल में सर्प का रूप धारण करके ऐसा घुस गया

कि उत्तंक आश्चर्य में डूब गए। वे यह सोच भी न सके कि अब आगे क्या किया जाय।

किन्तु उत्तंक को अपने पर अडिग आत्मविश्वास था। यद्यपि वह जान गए कि तक्षक पाताल में पहुँच गया होगा, तथापि उन्होंने अपने दण्ड से खोदकर उस बिल का मुँह चौड़ा करना शुरू किया और मन में देवराज इन्द्र की स्तुति करने लगे। क्योंकि वह जान गए कि बिना देव-बल का सहारा लिए उस तक्षक से पार पाना कठिन है।

उत्तंक को इस प्रकार व्याकुल और चिन्तित देखकर देवराज इन्द्र को बड़ी सहानुभूति हुई, उन्होंने उत्तंक से बिना कुछ कहे सुने ही प्रच्छन्न रीति से अपने वज्र को यह आज्ञा दी कि मुनिकुमार उत्तंक के दण्ड में समाविष्ट हो जाओ और शीघ्र ही उनके पाताल-प्रवेश का मार्ग प्रशस्त कर दो।

परिणाम यह हुआ कि उत्तंक के दण्ड के लघु-प्रहार पर ही उस बिल के समीप धरती में एक विशाल विवर दिखाई पड़ गया, जिसमें से होकर पाताल लोक पहुँचना कुछ कठिन नहीं था। उत्तंक को जल्दी तो थी ही। वह बिना कुछ अधिक सोच-विचार किए ही उक्त विवर में कूद पड़े और शीघ्र ही पाताल लोक में पहुँचकर तक्षक की तलाश करने लगे। किन्तु पाताल लोक इतना छोटा नहीं था। वहाँ भी धरती के समान ही सुन्दर महल, मन्दिर, राजमार्ग, हाट-बाट और बन, उपवन थे। जगह-जगह पर सुन्दर सरोवर और उद्यान लगे थे, जहाँ धरती के उक्त सरोवर की भांति प्राकृतिक छटा बिखरी हुई थी। किन्तु उत्तंक को यह सुख लूटने की फुरसत कहाँ थी। वह अत्यन्त चिन्तित मुद्रा में तक्षक की तलाश में इधर-उधर भटकने लगे किन्तु कहीं भी तक्षक का पता नहीं लगा। और इस प्रकार पाताल में भटकते हुए काफी समय बीत गया।

उत्तंक को अब अत्यन्त निराशा हुई। क्योंकि धीरे-धीरे गुरुपत्नी को दिए गए समय की समाप्ति होती जा रही थी। अन्त में निराश होकर उसने सर्पों का स्तवन करते हुए अपनी परिस्थिति की चर्चा के साथ

कुण्डलों को लौटाने की प्रार्थना करना शुरू किया। उसकी प्रार्थना का स्वर ऊँचा था और उसकी वाणी में वास्तविक विनय की भावना थी, किन्तु क्रूर सर्पों के मन पर उत्तंक की प्रार्थना का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और उत्तंक अत्यन्त निराश होकर फिर चारों ओर घूमने लगा। इसी बीच उसे दो सुन्दरी स्त्रियाँ दिखाई पड़ीं, जो करघे पर एक ऐसा कपड़ा बुन रही थीं, जिसका ताना सफेद सूत का था और बाना काले सूत का। उसी के कुछ दूर आगे उसे एक ऐसा चक्का (पहिया) दिखाई पड़ा, जिसमें बारह खूंटियाँ लगी थीं और छः लड़के जिसे घुमा फिरा रहे थे। उससे कुछ दूर आगे एक अत्यन्त सुन्दर घोड़े पर एक ऐसा युवा मनुष्य बैठा हुआ मुस्करा रहा था, जिसकी अनुपम सुन्दरता और आभा से उत्तंक का हृदय आश्चर्य से भर गया। पुरुष शुभ्र गौर वर्ण का था और उसकी मुस्कराहट और मुखमुद्रा से उत्तंक को यह विश्वास हो गया कि इस भद्र पुरुष द्वारा उसे इस संकट में अवश्य कोई न कोई सहायता प्राप्त हो सकती है।

उत्तंक विनय भरी वाणी में उस अज्ञात पुरुष की जब स्तुति करने लगे तो वह उत्तंक के अत्यन्त समीप आकर बोला—

'मैं तुम्हारी स्तुति से परम प्रसन्न हूँ। बोलो, तुम क्या चाहते हो और क्यों इतने चिन्तित हो।'

उत्तंक को जैसे डूबते को सहारा मिला। कृतज्ञता की आंसू से भरे नेत्रों और गद्‌गद वाणी में वह बोला—'भद्रपुरुष! यदि आप दया करके पाताल के सर्पों को मेरे सामने कर देते तो मैं अपनी गुरुपत्नी की प्रसन्नता के लिए राजा पौष्य की रानी के कुण्डलों को प्राप्त कर लेता। क्योंकि यदि वे कुण्डल हमें शीघ्र ही नहीं मिल जाते तो हमें घोर विपत्तियाँ उठानी पड़ेंगी।'

भद्रपुरुष बोला—'सौम्य! तुम मेरे इसी घोड़े के पीछे खड़े होकर धीरे-धीरे इसके शरीर पर फूँक मारो। शीघ्र ही सर्पगण तुम्हारे अधीन होने के लिए विवश हो जायँगे।'

उत्तंक ने तत्क्षण ऐसा ही किया। उसने घोड़े के पीछे खड़े हो कर जैसे ही दो-चार फूँक लगाया, वैसे ही उस घोड़े के शरीर से चतुर्दिक काला धुंआ निकलने लगा। कुछ देर तक धुँआ निकलने के साथ ही उसके दोनों कानों और मुख से अग्नि की भयंकर लपटें भी निकलने लगीं। थोड़ी ही देर में उस धुँएँ से समस्त पाताल लोक व्याप्त हो गया और उत्तंक के देखते ही देखते पाताल लोक के सभी सर्प अपनी-अपनी बिलों से बाहर निकलकर उत्तंक के समीप आने को विवश हो गए। किन्तु यह क्या, वे तो उत्तंक के समीप पहुँचने के पूर्व ही उस घोड़े के मुख और कानों से निकलने वाली अग्नि की लपटों में धू-धू करके जलने लगे।

थोड़ी ही देर तक यह सब होता रहा कि अन्त में नागराज तक्षक उन दोनों कुण्डलों को लेकर उत्तंक के समीप स्वयं आ गया। और भय से कांपती हुई वाणी में बोला—'मुनिकुमार! मेरे अपराधों को क्षमा कर दें। आपका तेज और तप असाधारण है। मैंने जो भूलें की हैं, उनके लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ। ये हैं आपके कुण्डल। कृपाकर इन्हें स्वीकार करें और अपने क्रोध का संवरण करें।'

उत्तंक को कुण्डल पाकर अपार प्रसन्नता हुई। उसने फूँक मारना बन्द कर दिया और फूंक के बन्द करते ही अग्नि की लपटों और धुंआ की समाप्ति हो गई। उसने देखा कि पाताल लोक में चतुर्दिक भयंकर हानि हुई है और वहाँ की वह प्राकृतिक छटा थोड़ी ही देर में जलकर समाप्त हो चुकी है। नागराज तक्षक उसके सामने खड़ा है और उसके हाथों में महारानी के दिए हुए कुण्डल चमक रहे हैं। किन्तु थोड़ी ही देर में उत्तंक की सारी प्रसन्नता जैसे बीत गई, क्योंकि हिसाब लगाने पर उसे ज्ञात हुआ कि गुरुवानी को दिया गया उसका समय अब शीघ्र समाप्त होने वाला है और यदि ठीक समय पर कुण्डल उन्हें नहीं दिए जाते तो अवश्य ही वह कोई न कोई भयंकर शाप मुझे दे देंगी। फिर तो न केवल इन कुण्डलों की प्राप्ति के लिए मेरे किए गए सारे उपाय ही निष्फल हो

जायँगे वरन् हमारा अब तक का यशस्वी जीवन और अत्यन्त परिश्रम, साधना और निष्ठा से प्राप्त की गई हमारी विद्या भी विफल हो जायगी।

इस भयावनी चिन्ता के कारण उत्तंक का क्षणभर पूर्व का सुप्रसन्न कमल-मुख सूख कर कुम्हला गया। उस पर भारी विषाद और अनागत चिन्ता की कुटिल रेखायें उमड़ आईं और वह पुनः युवा पुरुष को कातर नेत्रों से निहारने लगा।

भद्रपुरुष को उत्तंक की यह चिन्ता ज्ञात हो गई। उसने पूर्ववत् मुस्कराते हुए कहा—'मुनिकुमार! तुम चिन्तित मत हो। मैं तुम्हें यह घोड़ा दे रहा हूँ। यह तुम्हें पलक मारते ही गुरुवानी के पास पहुँचा देगा। तुम इस पर सवार होकर तुरन्त चले जाओ।'

यह कहकर उस अत्यन्त दयालु पुरुष ने अपने ही हाथों से उत्तंक को उस सुन्दर और अद्‌भुद घोड़े पर बैठने में सहायता की, क्योंकि मुनिकुमार को घोड़ों पर बैठने का कोई पूर्वाभ्यास नहीं था। उत्तंक के बैठते ही घोड़ा ऐसा उड़ा कि पलक मारते ही उत्तंक अपनी गुरुवानी के समीप पहुँच गया, जो स्नान के अनन्तर विधिवत् पूजा-पाठ करके उत्सुकता से उत्तंक के आने की राह देख रही थीं और यह सोच-सोचकर चिन्तित हो रही थीं कि कहीं यदि ठीक समय पर उत्तंक न आ सका तो मुझे उसे शाप देने जैसा भयंकर कर्म करना पड़ेगा।

घोड़े पर चढ़कर उत्तंक को आया देखकर गुरुवानी को परम प्रसन्नता हुई। उनकी दृष्टि उत्तंक के बाएँ हाथ पर पड़ी जो उस अद्‌भुत कुण्डल की चमक से विभासित हो रहा था। उत्तंक ने घोड़े से उतर कर गुरुवानी के चरणों पर ज्यों ही शीश रखा, त्यों ही गुरुवानी ने उसके हाथ से कुण्डलों को ले लिया और उसे उलट पुलट कर देखने और आह्लादित होने लगीं। उनकी हार्दिक प्रसन्नता का पारावार नहीं था। उनके दोनों नेत्र चमक उठे थे और शरीर में बिजली की सी स्फूर्ति भर गई थी। प्रसन्नता से भरी वाणी में वह बोलीं—

'मेरे प्यारे वत्स! तुमने कितनी कठिनाइयों के बाद इसे प्राप्त किया होगा—यह मैं जानती हूँ। सचमुच तुम्हारे सिवा कोई अन्य व्यक्ति इन्हें प्राप्त भी नहीं कर सकता था। तुझे विलम्ब करते देख मेरा हृदय धड़क रहा था कि कहीं तुम आज ठीक अवसर पर न आ सके तो मुझे तुझ जैसे प्यारे पुत्र को शाप देने जैसा अप्रिय कर्म करना पड़ेगा किन्तु परमात्मा ने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की और मेरी इच्छा सफल की। मेरा आशीर्वाद है कि तुम्हारा मंगल हो, तुम्हारी विद्याएं यशस्विनी और फलवती हों और इस धरती पर तुम बहुत दिनों तक सुख-शान्ति से जीवन धारण कर अलय कीर्ति प्राप्त करो।'

उत्तंक का हृदय उमड़ पड़ा। अपनी महती सफलता से वह फूला नहीं समाया। गुरुआनी से विदा लेकर वह अपने आराध्य गुरु आचार्य वेद के समीप पहुँचा और उनके चरणों पर शीस झुकाया। उसे शीश झुकाता देख कर आचार्य वेद के करुण नेत्रों से वात्सल्य के आंसू चू पड़े और उन्होंने उत्तंक को उठाकर अपने अंकों में भर लिया। उत्तंक के मस्तक को बारम्बार सूंघते हुए वह स्नेह-सिक्त कण्ठ से बोले—

'वत्स! तुम इतने विलम्ब से क्यों लौटे? मार्ग में कुशल तो थी न? तुम्हें विलम्ब होता देख कर मैं अत्यन्त चिन्तित हो गया था वत्स!'

गुरु के इन स्नेह भरे प्रश्नों के उत्तर में उत्तंक ने आरम्भ से लेकर अन्त तक अपनी कठिनाइयों की चर्चा की, और जो विस्मयजनक घटनाएँ उसने देखी थीं उनके रहस्य के बारे में पूँछा—

'गुरुदेव। मैंने जाते ही मध्यमार्ग में सांड़पर बैठे हुए एक अद्भुत मनुष्य को देखा था, जिसने मुझे बलात् सांड़ का गोबर खाने के लिए विवश किया। उसने मुझसे यह भी कहा था कि तुम्हारे गुरु ने भी एक बार यह गोबर खाया है। मैं नहीं समझ सका कि वह पुरुष कौन था? इसी प्रकार पाताल लोक में मैंने सुन्दरी स्त्रियां देखी थीं जो सफेद और काले सूत का कपड़ा बुन रही थीं। उसी के पास छ लड़के बारह खूंटियों के द्वारा एक चक्का घुमा रहे थे। वहीं हमें अद्भुत सुन्दर युवा

पुरुष घोड़े पर सवार दिखाई पड़ा, जो यदि मेरी सहायता न करता तो मैं कहीं का न होता गुरुदेव ! मैं जानना चाहता हूँ कि यह सब लोग कौन थे ?'

आचार्य वेद कुछ क्षणों तक ध्यानावस्थित रहे, फिर प्रसन्न वाणी में बोले—'वत्स ! राजा पौष्य की राजधानी को जाते समय मध्यमार्ग में जो तुम्हें विशाल सांड़ पर सवार वह अद्भुत पुरुष दिखाई पड़ा था और जिसने तुम्हें गोबर खाने के लिए विवश किया था, वह दूसरा कोई नहीं, स्वयं देवराज इन्द्र थे। वह विशाल साँड़ उनका प्रिय वाहन ऐरावत था और जो गोबर तू ने खाया, वह अमृत था। देवराज इन्द्र मेरे सखा हैं, तेरी साधना और तपस्या में उन्हें भी परम रुचि रही है। उन्हीं की कृपा से मुझे भी एक बार अमृत की प्राप्ति हुई थी और अत्यन्त प्रीति के कारण ही उन्होंने मुझे भी अमृत खाने के लिए बाध्य किया था। यदि वे ऐसा न करते तो सर्पों और नागों से भरे पाताल लोक से तुम्हारा जीवित लौटना सम्भव न होता। उस अमृत के कारण ही तक्षक ने तुझ पर प्रत्यक्ष आक्रमण नहीं किया था और छिपकर चोरी से कुण्डल उड़ा लिया था।

पाताल की वे दोनों सुन्दरी स्त्रियाँ जीवात्मा और परमात्मा हैं। परमात्मा का स्वरूप श्वेत था और जीवात्मा का कृष्ण। बारह खूटियों वाला उक्त पहिया वर्ष था और वे छः बालक छहों ऋतुएँ थीं। वह गौरवर्ण का अति सुन्दर दिव्य पुरुष पर्जन्य था और वह घोड़ा साक्षात् अग्नि था। देवराज इन्द्र की कृपा से तुम्हें इन सब का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है और इनकी सहायता से ही तुम कृतार्थ हुए हो। वत्स ! तुम बड़े भाग्यशाली हो जो अपने गृहस्थ जीवन के आरम्भ में ही तुम्हें इतनी बड़ी सफलता मिली है। अब मैं भी तुझे आशीर्वाद देता हूँ। वत्स ! तेरा भविष्य मंगलमय हो। तेरी विद्याएं सफल हों। तेरा गृहस्थ जीवन सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से सदैव भरापुरा रहे। तू बहुत दिनों तक इस धरती पर आदर्श जीवन व्यतीत कर चिरकाल तक अपनी

कीर्ति का विस्तार कर वत्स ! मुझे आज हार्दिक प्रसन्नता है कि तू अपने माता-पिता के समीप जाकर अपनी अनवद्य विद्या, प्रतिभा और साधना से उनके जीवन को सुखमय करेगा।

उत्तंक का हृदय उमड़ पड़ा। अपने शिष्य-वत्सल आचार्य के चरणों में अत्यन्त भक्ति, कृतज्ञता और विनय के साथ पुनः शीस झुकाकर वह अपने पिता के घर की ओर चला गया। उसके नेत्रों से आनन्द और कृतज्ञा की बूंदें चू रही थीं और उसके मस्तिष्क में अपने इतने दिनों के अतीत जीवन की सुखद स्मृतियाँ चमक रही थीं!

———

उद्दण्ड राजकुमार दण्डक

दण्डकारण्य की चर्चा पुराणों के अनेक सन्दर्भों में आती है। इसकी भयंकरता, निर्जनता एवं दुर्गमता के सम्बन्ध में प्रायः सभी पुराण एकमत हैं और उन कथाओं से यह भी प्रकट होता है कि दक्षिण तथा उत्तर भारत के मध्य में गिरिराज विन्ध्य की क्रोड स्थली में अवस्थित इस भयंकर अरण्य ने अनेक युगों तक अपनी दुर्गमता के कारण एक खण्ड को दूसरे खण्ड से प्रायः अलग-थलग कर रखा था और पुराणों ही नहीं संस्कृत के आदिम महाकाव्य बाल्मीकि रामायण की रचना के समय भी इसका यही नाम था। महाभारत की अनेक कथाओं में भी दण्डकारण्य की चर्चा उसकी भयंकरता तथा निर्जनता के साथ ही आई है तथा आदिकवि बाल्मीकि के समान उन कथाओं में भी इस निर्जन भयंकर प्रदेश का कालान्तर में एक समृद्ध देश के रूप में उल्लेख किया गया है।

बाल्मीकि रामायण में दण्डकारण्य का एक दूसरा नाम जनस्थान भी आता है, जिसका तात्पर्य तपस्वियों अथवा क्रूरकर्म राक्षसों के निवास-स्थान से है। दण्डकारण्य के मध्यभाग से बहने वाली गोदावरी नदी का पुराणों तथा धार्मिक ग्रन्थों में बड़ा माहात्म्य है और स्वयं दण्डकारण्य के सम्बन्ध में भी महाभारतकार के अनुसार जो व्यक्ति यहाँ निवास करता है वह राजलक्ष्मी का युगों तक सेवन करता है।

दण्डकारण्य के सम्बन्ध में पुराणों में अनेक कथाएँ हैं, जिनमें से उसके नामकरण की एक रोचक कथा संक्षेप में यहाँ दी जा रही है।

वैवस्वत मनु के सर्वश्रेठ पुत्र इक्ष्वाकु ने जब अपने पिता से उत्तराधिकार ग्रहण किया तो दण्डनीति के नियामक मनु ने शासन-सत्ता सौंपने के साथ उससे एक बात का विशेष आग्रह किया। लगता है उस समय धरती पर जन-संख्या की अत्यधिक न्यूनता थी, अत: मनु ने कहा—'वत्स!

तुम हमारे कुल के आनन्ददायी पुत्र हो। सब प्रकार से सुयोग्य और सक्षम हो। मेरी इच्छा है कि तुम धरती पर अनेक राजवंशों के प्रतिष्ठाता बनो और मेरे द्वारा स्थापित राजनीति—विशेषतया दण्डनीति की मर्यादा-रक्षा करो।'

इक्ष्वाकु ने आज्ञाकारी पुत्र की भांति अपने पिता की आज्ञा के पालन का जब आश्वासन दिया तो मनु परम सन्तुष्ट हुए और आशीर्वादों की वर्षा करते हुए बोले—'मेरे परम आज्ञाकारी पुत्र ! मैं तुम पर परम प्रसन्न हूँ। मेरा आशीर्वाद है कि तुम धरती पर अनेक राजवंशों की सृष्टि करने में सब प्रकार सफल होगे और मेरे द्वारा स्थापित राजधर्म की मर्यादा को अपनी दण्डनीति से सुरक्षित बनाए रहोगे। किन्तु मेरी इस बात पर भी सदा तुम्हें ध्यान रखना होगा वत्स ! कि कभी भूलकर भी किसी अनपराधी पर दण्ड का प्रयोग मत करना। क्योंकि यह दण्ड बड़ा भयंकर है। एक ओर जहाँ अपराधियों पर प्रयुक्त होने के कारण यह राजा को स्वर्गलोक पहुँचाता है, वहीं अनपराधियों पर प्रयुक्त होकर यह राजा के समूल वंशोच्छेद का कारण भी बनता है। इसलिए मेरा आग्रह है कि तुम भलीभांति सोच-विचार कर लेने के बाद ही दण्डनीति का प्रयोग करना। मुझे आशा है कि इस प्रकार राजधर्म की मर्यादा का पालन करने के कारण युगों-युगों तक लोग तुम्हारे यश का गान करेंगे और संसार के प्रमुख राजवंशों के प्रतिष्ठाता के रूप में संसार में तुम अमर बने रहोगे।'

इक्ष्वाकु ने अपने आराध्य पिता के चरणों पर शीस झुकाकर उनके द्वारा निर्दिष्ट राजधर्मों के अनुपालन की जब पुन: शपथ ग्रहण की तो कुछ दिनों बाद महाराज मनु ने समाधि द्वारा शरीर त्यागकर बड़े हर्ष के साथ स्वर्ग-लोक को प्रस्थान किया।

महाराज मनु के अनन्तर इक्ष्वाकु ने अनेक यज्ञ कराए, विविध प्रकार के दान और धर्म किए। तपस्याएँ और साधना कीं तथा पिता की आज्ञा के अनुसार एक सौ श्रेष्ठ पुत्रों को उत्पन्न किया। इक्ष्वाकु के ये सभी पुत्र

देवताओं के समान तेजस्वी तथा प्रतिभाशाली थे और उन सब के शरीर महाराज इक्ष्वाकु की भांति सुन्दर, स्वस्थ तथा बलवान थे। अपने पिता द्वारा निर्दिष्ट राजधर्म एवं लोकधर्म की परम्पराओं के अनुसार इक्ष्वाकु ने उन सभी पुत्रों के पालन-पोषण का उचित प्रबन्ध किया और उनकी शिक्षा दीक्षा एवं राजोचित संस्कारों के लिए उन्हें देश के चुने हुए ऋषियों-महर्षियों के आश्रमों में भेज दिया।

किन्तु इक्ष्वाकु के सौ पुत्रों में जो सब से छोटा था, वह शरीर से खूब हृष्ट-पुष्ट, बलवान, नटखट, उद्दण्ड तथा क्रूर प्रकृति का था। अपने ज्येष्ठ भाइयों की आज्ञा का पालन करना तो दूर वह उन्हें बहुत परेशान किया करता था और बात ही बात में उन्हें मार-पीट भी देता था। ऋषियों के आश्रमों में भी वह बड़ा उत्पात मचाता था और स्वाध्याय तथा जप-तप के स्थान पर क्रूरता भरे कर्म करके आश्रमवासी मुनियों, छात्रों तथा पशु-पक्षियों को अकारण पीड़ा पहुँचाया करता था। अन्ततः उसके क्रिया-कलापों से परेशान होकर ऋषियों ने जब उसे महाराज इक्ष्वाकु से राजधानी को वापस बुला लेने का अनुरोध किया तो उन्होंने विलम्ब नहीं किया। और उसे राजधानी में अपने समीप रखकर दीक्षित करने का प्रयत्न किया। उन्हें यह आशा थी कि मेरे समीप रह कर उसकी दूषित मनोवृत्तियों में परिवर्तन हो जायगा और धीरे-धीरे वह सन्मार्ग पर आ जायगा, किन्तु राजधानी में आने पर तो उसे और भी छूट मिल गई।

आखिरकार वह एक राजकुमार था। अन्तःपुर से लेकर राजदरबार तक सहस्त्रों दास-दासियों की उपस्थिति के कारण उसे अब मुनियों के आश्रम की भांति अपने हाथों से कोई काम-धाम भी नहीं करना पड़ता था और यहाँ सभी लोग उससे डरते भी थे। अतः थोड़े ही दिनों के भीतर उसकी मार-धाड़ और क्रूरता की कथाएँ महाराज इक्ष्वाकु के कानों में भी पड़ने लगीं। पहले उन्होंने सोचा कि सम्भव है वय अधिक होने पर वह राजकुमार पद की जिम्मेदारी समझने लगेगा और अपने निन्दित कर्मों से विरत हो जायगा, अतः समय-समय पर उसे सदुपदेश

देकर सन्मार्ग पर लाने का वह बराबर प्रयत्न करते रहे किन्तु उसके जन्मगत संस्कार इतने क्रूर तथा पीड़क थे कि राजा इक्ष्वाकु की बातों पर वह तनिक भी ध्यान नहीं देता था। इतना अवश्य था कि वह राजा इक्ष्वाकु के सामने पहुँचकर एकदम चुप्पी साध लेता था और उतने समय तक कुछ नहीं बोलता था, जितने समय तक उनके समीप रहता था किन्तु वहाँ से अलग होते ही उसकी दुष्प्रवृत्तियों का वेग द्विगुणित हो जाता था।

इस प्रकार जब कुछ वर्ष राजधानी में भी बीत गए और महाराज इक्ष्वाकु का वह छोटा पुत्र अपने क्रूरकर्मो से विरत नहीं हुआ तो वह बहुत चिन्तित हुए। क्योंकि अब तक पढ़ने लिखने के नाम पर भी उसने कुछ नहीं सीखा था और राजोचित गुणों की बात तो दूर उसे साधारण नागरिकों जैसी शिष्टता एवं सभ्यता का भी ज्ञान नहीं था। अतः राजा इक्ष्वाकु ने उस पर अपने पिता द्वारा बताई गई दण्डनीति का प्रयोग करना शुरू किया और उसका पूर्व नाम बदलकर दण्ड रख दिया।

राजा इक्ष्वाकु द्वारा दण्डनीति का प्रयोग करने के कारण उनके उस कनिष्ठ पुत्र की दशा में थोड़ा-बहुत परिवर्तन तो अवश्य हुआ किन्तु उसके स्वभाव की सहज क्रूरता और अविनय में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। धीरे-धीरे वह वयस्क हुआ। उसका शरीर अपने अन्य भाइयों की अपेक्षा अधिक बलवान और आकर्षक तो था ही उसमें वीरता, निर्भयता, उग्रता एवं कठोरता भी अत्यधिक थी। वह न तो किसी मनुष्य से डरता और न किसी हिंसक जीव-जन्तु से। राजवंश के अनुशासन या राजनीति के पालन में भी उसे कष्ट मालूम पड़ता था और वह बराबर इन दोनों बातों का उल्लंघन भी किया करता था।

जब सभी राजकुमार मुनियों के आश्रमों से अपना-अपना स्वाध्याय समाप्त करके राजधानी में वापस आ गए तो राजकुमार दण्ड के साथ उनका प्रायः विवाद उठने लगा। थोड़े दिनों तक तो राजा इक्ष्वाकु ने इस बात की उपेक्षा इस आशा से की कि कदाचित् अपने भाइयों की

अच्छी संगति का इस पर भी प्रभाव पड़ेगा किन्तु जब उन्होंने देखा कि दण्ड के उपद्रवों की घटनाएँ अब और बढ़ने लगी हैं और प्रतिदिन राजधानी का वातावरण अशान्त होता जा रहा है तो उन्होंने एक दिन दण्ड को बुलाकर कठोर अनुशासन देते हुए कहा—

—'मन्दमते ! ऐसा लगता है कि राजधानी में रहकर तुम्हारा सुधार होना अब असम्भव है। अत: मैं तुम्हें दक्षिण दिशा में विन्ध्य एवं शैवल गिरि के मध्यभाग का राज्य देकर वहां अविलम्ब चले जाने की आज्ञा देता हूं। तुम अब हमारी राजधानी में एक दिन भी निवास नहीं कर सकोगे। तुम अपनी सहायता अथवा सुविधा के लिए राजधानी से जो कुछ भी सेना या अन्य साधन ले जाना चाहो, ले जा सकते हो, किन्तु एक दिन के बाद तुम यहां कथमपि निवास नहीं कर सकते।'

राजकुमार दण्ड को अपने पिता की इस कठोर आज्ञा से तनिक भी परेशानी नहीं हुई। जैसे वह बहुत दिनों से अपने पिता की इस प्रिय आज्ञा को तत्क्षण पूरा करने की तैयारी में लगा रहा हो। वह तत्क्षण मुस्कराते हुए बोला :—

—'पूज्य तात ! एक राजपुत्र के लिए यह अशोभनीय है कि वह अपनी सहायता या सुविधा के लिए अपने पिता द्वारा अर्जित साधनों का प्रयोग करे। मैं आपकी राजधानी को इसी क्षण त्याग देता हूँ और विन्ध्य तथा शैवल पर्वत के मध्यभाग की ओर तुरन्त प्रस्थान करता हूँ।

दण्ड के इस रूखे उत्तर से राजा इक्ष्वाकु को थोड़ी चिन्ता हुई। उनके हृदय में दण्ड के प्रति पुत्र का ममत्व तो था ही, किन्तु उससे इस प्रकार के उत्तर पाने की आशा उन्हें कभी नहीं थी। थोड़ी देर तक हृदय के आवेग को बांधकर वे दृढ़तापूर्वक खड़े रहे, किन्तु दण्ड ने उन्हें नमस्कार किए बिना ही जब उनकी ओर से अपनी दृष्टि फेर ली और अपनी स्वच्छन्द गति से दरबार से बाहर निकलकर तत्काल

विन्ध्याटवं का मार्ग पकड़ लिया तो वे विचलित हो उठे। अपने महामात्य को उन्होंने दण्ड के साथ कुछ पदाति सेना तथा कुछ रथ, हाथी एवं घोड़सवार भेजने का आदेश दिया। किन्तु दण्ड अपने पिता की राजधानी से कुछ भी बिना स्वीकार किए ही अकेले विन्ध्य के मार्ग पर चल पड़ा। उसने महामात्य का भी अपमान किया और अपने संग जाने वाली पदाति सेना एव स्यन्दनादि के सवारों को भी बलपूर्वक राजधानी की ओर वापस करा दिया।

एक-दो दिनों तक अनुताप एवं चिन्ता करने के बाद महाराज इक्ष्वाकु ने धैर्य धारण कर लिया, क्योंकि दण्ड के निर्वासन के अनन्तर उनकी राजधानी का वातावरण बहुत ही शान्त तथा निरुपद्रव बन गया था।

उधर राजकुमार दण्ड जब विन्ध्य एवं शैवलगिरि के मध्यवर्ती भूभाग पर पहुँचा तो वहां की प्रजा ने उसका विधिवत् स्वागत-समादर किया, क्योंकि महाराज इक्ष्वाकु की प्रेरणा से कुछ राजदूत वहां पहले ही पहुँच गए थे और उसके शासन-भार को सुकर बनाने के प्रयत्नों में लग गए थे। दण्ड को जब यह बात ज्ञात हुई तो उसने पिता के दूतों को भी वहां से वापस कर दिया और अपने प्रचण्ड पराक्रम, उत्साह तथा विवेक के अनुसार थोड़े ही दिनों में वहां का शासन अत्यन्त निपुणता पूर्वक चलाने लगा। उसकी क्रूरता न जाने कहां समाप्त हो गई और अब वह अपनी प्रजा के प्रति नीति के साथ-साथ उदारता एवं मृदुता का व्यवहार भी करने लगा।

सर्वप्रथम उसने अपनी प्रजा में से वीर एवं साहसी लोगों को चुन-चुनकर अपनी एक वृहत् सेना बनाई और बुद्धिमान, नीतिज्ञ तथा विद्वानों को चुन-चुनकर अपनी मंत्रिपरिषद् में नियुक्त किया। प्रजा की सभी प्रकार की आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त कर उसने एक-एक मंत्री को उस कार्य का दायित्व सौंपा और उनसे स्पष्ट कह दिया कि—यदि अपने-अपने कार्यों में आप लोग सफल रहे तो आपकी

उन्नति एवं कल्याण की सभी चिन्ताएँ मैं स्वयं वहन करूंगा, किन्तु यदि आपके विभाग के सम्बन्ध में मुझे कोई शिकायत सुनने को मिली तो आपका कल्याण नहीं है।

अपने राजकार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए दण्ड ने अनेक भव्य राजमहल बनवाए और अपने पितामह महाराज मनु के कथनानुसार प्रदेश के मध्यभाग में अपनी राजधानी को इतने सुन्दर एवं समृद्ध ढंग से सुसज्जित किया कि वह समूची धरती की उस समय की श्रेष्ठ नगरी बन गई। उसके अपार साहस एवं पौरुष की कथाएं बढ़ने लगीं, क्योंकि प्रायः प्रतिदिन वह प्रजा के हितार्थ स्वयं कठोर से कठोर कार्य करता रहता था।

संयोग से उसके राज्य में जंगल एवं पर्वतों की बहुलता थी। पर्वतीय हिंस्र जीवजन्तुओं के कारण वहाँ की जनता का जीवन सदैव संकटों में से गुजरता था। कभी जंगली हाथियों के उत्पात के कारण उनकी कृषि नष्ट होती थी तो कभी सिंह व्याघ्रादि पशुओं के कारण उनकी गौओं एवं बैलों की हानि होती थी। दण्ड ने प्रजा के इन संकटों को समूल दूर करने का भार अकेले अपने कन्धों पर लिया और प्रतिदिन मृगया के बहाने वह अकेले ही अनेक उन्मत्त गजराजों, सिंहों एवं व्याघ्रों का विनाश करने लगा। सर्पादि अनुपकारी जीवों के विनाशार्थ भी उसने अनेक उपाय किए और थोड़े ही दिनों में अपने राज्य की प्रजा के सभी प्रकार के दुःखों को जड़मूल से नष्ट किया। परिणाम यह हुआ कि उस प्रदेश की प्रजा के हृदय में उसका आदर बहुत बढ़ गया और स्वयं दण्ड भी प्रतिक्षण उनके दुःखों एव अभावों को दूर करने की चिन्ता में व्यस्त रहने लगा।

इस प्रकार जब कुछ दिन बीत गए तो अपने राज्य को सुव्यवस्थित करने के अन्तर दण्ड ने भी अपने पिता की भांति यज्ञ-दानादि के क्रम आरम्भ किए। उसने शुक्र को अपना आचार्य बनाया और उनके निर्देशन में अनेक बड़े बड़े यज्ञ सम्पन्न किये। धीरे-धीरे उसके

अनुपम साहस, धैर्य और वीरता की कथाएं धरती पर गाई जाने लगीं, जिनके कारण उसके पिता और भाइयों को आश्चर्य और ईर्ष्या होने लगी।

विधाता की क्रूर रचना को अन्यथा करने की शक्ति कभी-कभी सत्कर्मों में भी नहीं होती। विभिन्न प्रकार के यज्ञों एवं दानादि सत्कर्मों के कारण दण्ड की पाशविक प्रवृत्तियों का शमन कुछ अंशो में तो अवश्य हो गया, किन्तु कभी-कभी उसकी सहजात हिंसक वृत्ति में उफान भी आ जाता था। अकारण क्रुद्ध होकर अपने अनुजीवियों का वह कब अकाल मृत्यु बन जायगा इसका कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता था और न इसी बात का कोई निश्चय था कि वह अपने यज्ञादि सत्कर्मों को कब बन्द कर देगा। अपने नितान्त मनमौजी और अनियंत्रित स्वभाव के कारण वह न केवल अपने प्रजावर्ग में ही वरन् समूची धरती पर भयमिश्रित आदर और प्रतिष्ठा का पात्र बन गया था और यदा-कदा अपने क्रूर कर्मों के कारण निन्दा और अप्रतिष्ठा का भी भाजन बन जाने में उसे कोई हिचक नहीं थी।

एक बार दण्ड किसी कार्य से अपने गुरु शुक्राचार्य के आश्रम में गया, जहां उसकी भेंट आचार्य शुक्र की युवती पुत्री अरजा से हुई। अरजा परम सुन्दरी थी। उसका लोक-विमोहक सौन्दर्य देखकर दण्ड का अपने पर काबू नहीं रहा और वह उसे प्राप्त करने के लिए विचलित हो गया। अरजा उस समय अपने पिता की पूजा के लिए उद्यान से पुष्प-चयन कर रही थी। वसन्त की मोहक सुन्दरता से सर्वत्र व्याप्त उद्यान में उसकी एकाकी उपस्थिति को पाकर दण्ड ने वही किया, जिसकी उससे आशा थी। अरजा की प्रार्थनाओं झिड़कियों और धमकियों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और न उसे अपने सर्वसमर्थ आचार्य शुक्र के पराक्रम एवं तपोबल का ही कोई भय हुआ।

अपने आचार्य की पुत्री अरजा का सुकुमार यौवन और सौन्दर्य बलात् प्रधर्षित करने के अनन्तर दण्ड अपनी राजधानी मधुमन्त नगर

को तत्क्षण वापस चला आया। उधर आचार्य शुक्र को अपनी कन्या अरजा के अपमानित होने की दारुण कथा ज्ञात हुई। इस दुर्घटना से अरजा इतनी दुःखी और ग्लानियुक्त थी कि वह नदी में कूदकर अपने प्राणों को त्यागने के लिए तैयार थी। आचार्य शुक्र ने अनेक प्रकार से उसे समझाने-बुझाने की कोशिश की किन्तु उसका क्रोध किसी भी प्रकार से शान्त नहीं हुआ। वह बराबर रुदन करती रही और अपने कलंकी शरीर को नष्ट कर देने के सिवा किसी अन्य उपाय द्वारा अपना शोक कम करने के लिये तैयार नहीं हुई।

अपने सैकड़ों शिष्यों समेत आचार्य शुक्र ने जब देखा कि अरजा का महान् शोक किसी अन्य उपाय द्वारा शान्त नहीं किया जा सकता तो वह अत्यन्त क्रोध और अमर्ष से कांपने लगे। उन्होंने देखा—अरजा का लोक-विमोहक सौन्दर्य नष्ट हो गया है, उसका अंग प्रत्यंग धूलधूसरित है, वह प्रातःकाल की राहुग्रस्त चन्द्रिका की भांति तनिक भी शोभा नहीं दे रही है और अब उसके जीवन की भी आशा नहीं की जा सकती तो अपने शिष्यों समेत अपने आश्रम को कंपाते हुए अत्यन्त क्षुब्ध स्वर में वह बोल पड़े—

"इस परम पातकी और अन्यायी राजा दण्ड के समूल विनाश का समय अपने आप आ गया। मैंने बड़े-बड़े उपायों द्वारा इस दुर्बुद्धि राजा की रक्षा की थी किन्तु इस अभागे का पापकर्म इतना प्रबल था कि मेरे लाख चाहने पर भी अब इसका विनाश रुक नहीं सकता। ऐसा जघन्य अपराध करने वाला शासक अब अधिक समय तक पृथ्वी पर नहीं रह सकता। शापाग्नि में इसका समूल विनाश होकर रहेगा।

"देवराज इन्द्र इस आततायी राजा के सौ योजन विस्तृत राज्य पर लगातार सात दिनों तक धूलों का वर्षा करके नष्ट कर देंगे अतः मेरी आज्ञा है कि जो प्राणी अपना कल्याण चाहते हैं वे सात दिनों के पूर्व ही इस आततायी राजा दण्ड का राज्य छोड़कर बाहर भाग जायं। अन्यथा देवराज इन्द्र की धूल वर्षा में उनका भी विनाश हो जायगा।"

इस प्रकार आचार्य शुक्र की शाप दग्ध वाणी के अनुसार आततायी राजा दण्ड का सौ योजन लम्बा चौड़ा राज्य सात दिनों के भीतर ही जब नष्ट हो गया तो समूचे भारतवर्ष में हाहाकार मच गया। पुराणों का कथन है कि किसी युग में उस भूखंड पर वैसी दैवी आपदा नहीं आई थी। देवराज इन्द्र के द्वारा लगातार सात दिनों की धूल वर्षा के कारण राजा दण्ड का न तो वह मधुमन्त नगर रह गया और न उसकी सेना एवं प्रजा का ही कुछ पता लगा। जो लोग दण्ड का राज्य छोड़कर समय रहते भागकर बाहर निकल सके वे तो बच गए और शेष सभी शुक्र की प्रचण्ड क्रोधाग्नि के शिकार हो गए। आचार्य शुक्र स्वयं अपने शिष्यों समेत भागकर वहाँ से बाहर चले आए, किन्तु उनकी कन्या अरजा का मनस्ताप इतना गम्भीर था कि वह वहीं बनी रही। बताते हैं, आचार्य शुक्र की कृपा से उनके आश्रम के इर्द-गिर्द एक योजन विस्तृत भूभाग की रक्षा हो गई, जो बाद में ऋषियों के निवास के कारण पवित्र हो सका किन्तु शेष भूमाग शताब्दियों तक ऐसा निर्जन और भयंकर बना रहा कि आज के विज्ञान युग में उसे बसाने की योजना पूर्णतः कार्यान्वित होने जा रही है।

आततायी राजा दण्ड के घोर पाप की यह करुण-कथा आज तक आचार्य शुक्र के शाप से बोझिल बनी हुई है।

पशुओं की वाक्शक्ति का अपहरण

देवताओं और असुरों में सनातन वैर-विरोध रहा। देवजाति अकेली थी जब कि असुरों में दैत्य, दानव, राक्षसादि की अनेक उत्पाती जातियां शामिल थीं। ये लोग अकेले में अथवा समूह में जब कहीं कोई अवसर पाते थे, देवताओं को परेशान किया करते थे। उनके यज्ञों और व्रतों का विध्वंस करना इनका पहला काम था, क्योंकि यह सब इतना तो जानते ही थे कि देवताओं की शक्ति का रहस्य उनके यज्ञों में छिपा हुआ है। अत: असुर लोग देवताओं से बढ़कर उनके यज्ञों के विरोधी थे और रात-दिन इसी चिन्ता में लगे रहते थे कि उनका कोई भी यज्ञ कभी निर्विघ्न सम्पन्न न हो सके। उधर देवताओं ने असुरों के भय से अपने प्राणोपम यज्ञों की निर्विघ्न समाप्ति के लिए असंख्य गणों की नियुक्ति की और उनके अधीक्षक के पद पर गजानन गणेश को रखा, जो समस्त शुभाशुभ कर्मों की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उत्तरदायी थे। यों देवताओं को मृत्यु का भय नहीं था, क्योंकि भगवान विष्णु द्वारा सुधापान करा देने के कारण वे सब अजर-अमर हो चुके थे किन्तु असुरों द्वारा उन्हें जो बारम्बार तंग किया जाता था और उनके यज्ञ-यागादि में प्रतिदिन बाधाएँ डाली जाती थीं, इसके कारण वे सदैव चिन्तित रहते थे। समस्त अभावों से दूर देवेन्द्र की अमरावती और नन्दन कानन में रह कर भी देवताओं को असुरों के भय से कभी चैन नहीं मिलता था।

एक बार देवताओं ने आपस में सलाहकर एक ऐसे महान् यज्ञ को निर्विघ्न सम्पन्न करने का फैसला किया, जैसा अबतक धरती पर कभी न हुआ हो। उनका विश्वास था कि ऐसे महान् यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति पर ब्रह्मा, विष्णु और शंकर की संयुक्त प्रसन्नता से हमारी सभी बिपदाओं का सदा के लिए अन्त हो जायगा। अपने इस महान् यज्ञ

की तैयारी में देवताओं ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। सर्वप्रथम उन्होंने कामधेनु से प्रार्थना कर उससे उसकी अनेक पुत्रियां और पौत्रियां मांगी, जो उस महान् यज्ञ के निमित्त प्रचुर दूध, दही और घृतादि के साथ उनकी कामनाओं की पूर्ति का वरदान भी दे सकें। कामधेनु द्वारा उसकी सैंकड़ों पुत्रियों की प्राप्ति के अनन्तर देवताओं ने उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी लेने के लिए मृत्यु के देवता यमराज से प्रार्थना की। उनका विश्वास था कि अपने क्रूर दण्ड के लिए कुख्यात यमराज से बढ़कर कोई अन्य देवता ऐसा नहीं है जो इन कामधेनुओं की रक्षा कर सके।

यमराज ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली और कामधेनुओं की सुरक्षा के लिए अपनी परम विश्वस्त सरमा नामक एक कुतिया और उसके दोनों पुत्रों अक्ष और चतुर नामक कुत्तों को नियुक्त कर दिया।

सरमा देवताओं की परम विश्वस्त थी और उसी प्रकार उसके दोनों पुत्र भी महाबलवान तथा वायुवेग के समान फुर्तीले तथा देव-भक्त थे। असुरों को तो देखते ही वे उन्मत्त से हो जाते थे और अपने नुकीले दाँतों तथा भयंकर दाढ़ों से ऐसा आक्रमण कर देते थे कि सहसा असुरों में से किसी को उनके समीप से गुजरने की हिम्मत भी नहीं होती थी।

इधर असुरों को देवताओं के इस महान् यज्ञ की सूचना जब मिली तो वे बहुत चिन्तित हुए और यह जानकर तो उन्हें और भी घबराहट हुई कि इस यज्ञ की तैयारी के लिए कामधेनु की सैकड़ों पुत्रियों और पौत्रियों को देवताओं ने मांग लिया है। कामधेनु की शक्ति का उन्हें पूर्ण परिचय था, अतः सर्वप्रथम उन्होंने आपस में सलाह कर के यही निश्चय किया कि जैसे भी हो देवताओं के पास से इन कामधेनु की सन्तानों का अपहरण किया जाय। इसी उद्देश्य से उन्होंने गौओं के स्थान पर अनेक बार सामूहिक आक्रमण भी किया, किन्तु सरमा और उसके पुत्रों के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर चोरी से

रात-विरात में लुकछिप कर उन्होंने गौओं के अपहरण के अनेक प्रयत्न किए, किन्तु सरमा और उसके पुत्रों के कारण इसमें भी वे असफल ही रहे।

इस प्रकार असुरों की जब एक भी चाल सफल नहीं हुई तो उन्होंने कूटनीति का सहारा लिया। रातभर की कड़ी रखवाली के कारण दिन में सरमा के दोनों पुत्र प्रायः नींद में मस्त रहते थे और सरमा स्वयं चौकसी रखती थी। असुर मायावी तो थे ही। वे दिन में मानव वेश धारण कर सरमा के आस-पास चले आते और विविध प्रकार के मिष्ठान्न और पकवान लाकर सरमा के सामने डाल जाते। एक-दो दिनों तक तो वे दूर-दूर ही रहे क्योंकि सरमा के पुत्रों के जग जाने का भय था, किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनके डाले गए स्वादिष्ट पदार्थों के प्रति सरमा की रुचि धीरे धीरे बढ़ गई है तो वे कुछ निर्भय होकर सरमा के अतिनिकट आ गए और उसके चरण स्पर्श कर अपनी माता के समान उसके प्रति आदर भाव प्रकट किया।

असुरों का स्वादिष्ट अन्न खाने के कारण सरमा की मति दो-तीन दिनों के भीतर बहुत कुछ विकृत हो चली थी और उसके हृदय में असुरों के प्रति प्रीति भी उत्पन्न हो गई थी। इस आदर भाव के प्रदर्शन से तो वह उनके प्रति अतीव अनुरक्त हो उठी। असुरों की यह चाल शीघ्र ही सफल हो गई और अब वे निर्भय होकर अपने घर तैयार किए गए विविध प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थों से सरमा और उसके पुत्रों का पोषण-तोषण करने लगे। अब तो सरमा के पुत्र भी उन मायावी असुरों को देखकर चुप रह जाते थे और स्वयं सरमा तो उनके आने की प्रतिदिन राह देखती रहती थी।

भ्रमवश सरमा असुरों को साधारण मनुष्य मानती रही और उसी की भांति उसके दोनों पुत्र भी उन्हें मनुष्य ही मानते रहे। किन्तु स्वर्ग-लोक में मनुष्य की पहुँच क्यों कर हो सकती है—इसकी ओर उनका कभी ध्यान भी नहीं गया। उधर सरमा और उसके पुत्रों के

भरोसे देवजाति अपनी कामधेनुओं की ओर से पूर्ण निश्चिन्त थी। उसे इस बात का अडिग विश्वास था कि यमराज के विश्वासपात्र सरमा और उसके पुत्रों के रहते असुरों की एक नहीं चल सकेगी।

किन्तु किसी का अतिविश्वास सदैव घातक होता है। कुछ ही दिनों बाद मायावी असुरों ने सरमा और उसके पुत्रों को भली भांति छल लिया। गौओं के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा और भक्ति का प्रदर्शन कर वे देवताओं के लोक से उनके यज्ञ की अधिष्ठात्री सम्पूर्ण गौओं का एक साथ ही अपहरण कर ले गए और देवताओं को इसकी सूचना भी न हो सकी।

उधर देवताओं का यज्ञ आरम्भ हो चला था। प्रति दिन प्रातःकाल गोष्ठ से गौओं का दूध-दही आदि देवता लोग ले जाते थे। किन्तु उस दिन गोष्ठ में सवेरे आने पर जब गौएं नहीं दिखाई पड़ीं और सरमा के दोनों पुत्र कठोर निद्रा में निमग्न दिखाई पड़े तो देवलोक में हलचल मच गई। बड़े प्रयत्नों के बाद जब सरमा के दोनों पुत्र जगाए गए तो वे भी गौओं की अनुपस्थिति से हक्के-बक्के से रह गए। किन्तु सरमा को तो सब कुछ ज्ञात था। वह तो असुरों की ओर से उनके कहने पर देवताओं के उस यज्ञ को विफल कर देने के लिए कभी-कभी दूध और दही को जूठा भी कर दिया करती थी। उस समय वह दूर से हांफती हुई भय विह्वल मुद्रा में आंसू बहाती हुई चली आ रही थी। देवताओं को हताश खड़े देखते ही वह चीत्कार कर उनके चरणों पर गिर पड़ी और असुरों की सिखाई हुई मायाविनी भाषा में बोली—

—'देव! मैं लाखों प्रयत्न करके भी आपकी गौओं की रक्षा नहीं कर सकी। मेरे जीवन को धिक्कार है। मायावी असुरों ने ऐसी माया कर दी थी कि मेरे दोनों पुत्र सोते ही रह गए और मैं उन्हें जगा नहीं सकी। असुरों ने मेरी वाणी हर ली थी, मेरे शरीर में तनिक भी शक्ति नहीं रह गई थी कि मैं असुरों का पीछा कर सकूं। जब वे गौएं लेकर बहुत दूर चले गए तब मुझमें शक्ति आई, किन्तु मेरे पुत्र तब

भी जग नहीं सके। निराश होकर मैंने अकेले ही उनका पीछा किया किन्तु उन्होंने मुझे विवश कर दिया। हाय, मेरे देखते ही गौओं को हरकर वे मायावी असुर स्वर्ग लोग से बाहर निकल गए हैं।'

सरमा का रोना-धोना और उसकी विह्वलता को देखकर देवताओं को विश्वास हो गया कि वह सच्चा है, किन्तु इसी बीच वहां देवगुरु बृहस्पति और देवराज इन्द्र भी आ गए। उनसे कोई बात छिपाई तो जा नहीं सकती थी। वहाँ पहुँचते ही बृहस्पति ने देवताओं से कहा—

—'यह पापिनी सरमा असुरों से मिली हुई है। उनका अन्न खाने के कारण इसकी मति मारी गई है। यह जो कुछ कह रही है वह सब झूठा है। इसने जान बूझकर गौओं का अपहरण करने दिया है। असुरों की माया में फंसकर यह कई बार हमारे यज्ञ को निष्फल बनाने के लिए कामधेनु के दूध और दही को भी जूठा कर चुकी है। जिसका फल है कि अब तक हमें यज्ञ में सिद्धियों का दर्शन नहीं हो सका है।'

बृहस्पति की इस उत्तेजक वाणी ने देवराज इन्द्र को अत्यन्त क्षुब्ध कर दिया। उन्होंने अत्यन्त क्रोध में आकर सरमा के मुख पर एक जोर की लात मारी। इन्द्र के पाद-प्रहार करते ही सरमा के मुख से पर्याप्त मात्रा में दूध गिरा जिससे सब को विश्वास हो गया कि बृहस्पति का कथन सत्य है। फिर तो चारों ओर से सरमा के ऊपर डांट-फटकार और धिक्कार की आवाजें आने लगी और वह चुपचाप अपने दोनों पुत्रों के साथ सिर नीचा किए आंसू बहाती खड़ी रही।

जब समस्त देवताओं समेत इन्द्र को यह विश्वास हो गया कि सरमा के कारण ही उनका वह महान् यज्ञ निष्फल हुआ है तो वह अपने क्रोध को संभाल नहीं सके। उन्होंने दुत्कारते हुए स्वर में सरमा तथा उसके पुत्रों को यह शाप दे दिया।

—दुष्ट कुतिया! जा, तेरा अगला जन्म मर्त्यलोक में इसी योनि में हो और तेरे पुत्रभी तेरे साथ जन्म लें। तुम्हें जीवन भर कभी भर पेट

आहार न मिले । कोई एक टुकड़ा भी तुम्हें न दे । तुम्हारे सिर में कीड़े पड़ जायँ और बारम्बार इस प्रकार की असाध्य यातनाएं सहते हुए तू मरे और फिर श्वान की योनि में ही अनेक बार जन्म ले ।'

इन्द्र यह शाप दे ही रहे थे कि उसी क्षण यमराज भी वहां पहुँच गए । देवताओं की इन समस्त गौओं की सुरक्षा का भार उन्होंने अपने ऊपर ले रखा था । अतः ज्यों ही उन्हें गौओं की चोरी का समाचार मिला, वे घबराए हुए वहाँ पहुँच गए । उनके पहुँचते ही सरमा और उसके दोनों पुत्र यमराज के चरणों पर गिरकर चुपचाप अविरल आंसू बहाने लगे । अत्यन्त लज्जा और ग्लानि से कांपती हुई सरमा अपने पापी शरीर को शीघ्र से शीघ्र समाप्त कर देना चाहती थी क्योंकि अपनी कुत्सित करतूतों के कारण वह न केवल समस्त देवजाति एवं अपने पुत्रों की दृष्टि में ही पापिनी बन गई थी वरन् स्वयं अपने हृदय में भी वह अपने को धिक्कार रही थी । यमराज की विचित्र मनःस्थिति थी । सरमा और उसके पुत्रों पर अबतक उनका अटूट विश्वास था । सरमा से वह कुछ पूछना ही चाहते थे कि इसी बीच अत्यन्त क्रोध से कांपते हुए अग्निदेव भी वहां पहुँच गए । उस समय उनकी विकरालता देखकर देवगण सहम गए । अग्नि के नेत्रों से जो ज्वाला निकल रही थी उसके ताप से देवराज समेत समस्त देवगण सन्तप्त हो उठे । वहाँ पहुँचते ही अग्नि ने अत्यन्त क्षुब्ध स्वर में सरमा की ओर देखते हुए कहा—

—'देववृन्द ! यमराज की विश्वासिनी इस कुतिया ने केवल तुम्हारे यज्ञ का ही विध्वंस नहीं किया, वरन् इस पापिनी ने असुरों के साथ सांठ गांठ करके अपना और असुरों का जूठन भी मेरे मुँह में डाला है । क्योंकि यज्ञ के निमित्त जो भी दूध, दही तथा हव्य-कव्य इस दुष्टा की निगरानी में रखा जाता था, उन सब में यह अपना मुख डालकर जूठा करती रही है और यही नहीं, उनमें असुरों द्वारा उच्छिष्ट मांस भी यह मिलाती रही है । इसने तो हम सब का विनाश कर दिया है । अतः मैं शाप देता हूँ कि आज से किसी भी पशु को वाणी

न मिले और अपने सुखों तथा दुःखों को प्रकट करने की क्षमता भी इनमें न रहे। संसार में सब का जूठन इन्हें खाना पड़े और इनके मुँह का खाने के सिवा कोई दूसरा उपयोग न हो।'

अग्नि की इस शापाग्नि से सारा त्रैलोक्य कांप उठा। चराचर में आतंक छा गया और स्वयं देवता भी सरमा और उसके दोनों पुत्रों के शाप की विकरालता सुनकर अवसाद से भर गए। किन्तु सरमा और उसके दोनों पुत्रों ने देवताओं के इस शाप को अनुग्रह के रूप में स्वीकार किया क्योंकि अपने महान अपराधों के कारण वे इतने लज्जित तथा ग्लानि से भरे थे कि किसी को अपना मुख भी दिखाना नहीं चाहते थे। किन्तु उन्हें इस बात की विशेष चिन्ता हो गई थी कि अकेले उन्हीं के अपराधों के कारण समूचे पशु जाति की वाणी का विलोप किया गया था।

चारों ओर देवताओं की भारी भीड़ एकत्र थी, जिसमें सरमा और उसके दोनों पुत्रों को वहां से भागकर कहीं छिपने का भी अवसर नहीं रह गया था और इस भीड़ में अकेले यमराज को छोड़कर कोई ऐसा देवता नहीं था जिसके हृदय में सरमा और उसके पुत्रों के लिए तनिक भी सहानुभूति हो। देवराज इन्द्र, देवगुरु बृहस्पति, अग्नि ये सभी तो मानों सरमा को जीवित जला देने के पक्ष में थे किन्तु इसी बीच यमराज ने गौओं के अपहरण की जिम्मेदारी स्वयं स्वीकार करते हुए कुछ तीव्र स्वर में कहा—

—'देवराज! मेरा अपराध क्षमा हो। सरमा और उसके दोनों पुत्रों पर मेरा चिरकाल से अडिग विश्वास रहा, अतः मैंने उनके भरोसे पर आपकी गौओं की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लिया था। आप ने मेरे ऊपर विश्वास करके गौओं को छोड़ दिया था। अतः उनके अपहरण की सारी जिम्मेदारी मुझ पर है। आप मुझे जो भी चाहें, दण्ड दे सकते हैं। मैं सरमा और उसके पुत्रों के अपराधों को स्वयं अपने ऊपर स्वीकार करता हूँ क्योंकि नैतिक दृष्टि से उनके कामों का दायित्व मुझ पर ही आता है।'

यमराज की इस मार्मिक वाणी ने देवताओं को थोड़ी देर के लिए गम्भीर और चिन्तित बना दिया। क्योंकि अतीत में यमराज के द्वारा देवजाति के अनेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए थे और भविष्य में भी उनसे बड़ी बड़ी आशाएं थीं। देवताओं ने देखा कि यमराज की मुख-मुद्रा अत्यन्त गम्भीर और उत्तेजित है तथा उनके दोनों रक्ताभ नेत्रों के छोर अमर्ष को आंसुओं से भीग गए हैं। स्थिति गम्भीर थी और इस घटना से देवजाति में भयंकर फूट पड़ने की आशंका पैदा हो गई थी, अतः देवगुरु बृहस्पति ने मुस्कराते हुए कहा—

—'यमराज ! आपका कथन अक्षरशः सत्य है। हमारे महान् यज्ञ को इस प्रकार व्यर्थ बनाकर सरमा और उसके पुत्रों ने आपके साथ जो विश्वासघात किया है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता और उसका दुष्परिणाम देवजाति को चिरकाल तक उठाना पड़ेगा। हमारी चिरकालिक साधना निष्फल हो चुकी है। अतः अवश्य ही इसका प्रायश्चित आपको करना होगा, किन्तु इस प्रकरण में आपको कुछ बुरा मानने की आवश्यकता नहीं है। क्या आप चाहते हैं कि देवजाति में फूट पैदा हो और हम सब असुरों की इच्छा के अनुसार आपस में ही कलह करें। मैं तो समझता हूँ कि आपको सरमा और उसके पुत्रों पर अटूट विश्वास करने के कारण बहुत थोड़ा प्रायश्चित करना होगा।

यमराज का अमर्ष कुछ शान्त हुआ। बृहस्पति के प्रति आदर प्रकट करते हुए वह बोले—'गुरुदेव ! आपकी आज्ञा हमें शिरोधार्य है। किन्तु मैं यह भी चाहता हूँ कि अभागिनी सरमा ने जो अपराध किया है उसका कठोर दण्ड उसके पुत्रों को उतना ही उठाना पड़े जितना उनका अंश हो। मुझे अब भी विश्वास है कि उसके पुत्रों का गौओं के अपहरण में उतना भीषण अपराध नहीं है, जितना भयंकर उन्हें दण्ड दिया गया है। माता के अपराधों के कारण निरपराध पुत्रों पर ऐसे कठोर दण्ड की वर्षा करना उचित नहीं है।'

बृहस्पति बोले—'यमराज ! आपका कथन सत्य है। मैं भी सरमा

के पुत्रों को कुछ अंशों में निरपराध मानता हूँ किन्तु सरमा के छल-पूर्वक दिए गए आहार को ग्रहण करके उन्होंने जो पाप कमाया है उसका प्रायश्चित्त किए बिना उनका भी निस्तार नहीं है। यह हो सकता है कि उन्हें सरमा के कठोर अपराधों का दण्ड न भोगना पड़े।'

यमराज बोले—'गुरुदेव ! ऐसी स्थिति में तो मेरा तथा सरमा के पुत्रों का अपराध समान आता है क्योंकि मेरी ही भांति उनसे भी सरमा ने छल का व्यवहार किया है।'

वृहस्पति बोले—'हाँ; आपका कथन कुछ अंशों में ठीक है। किन्तु आपके तथा सरमा के पुत्रों के अपराधों में अन्तर है। कभी-कभी पुत्र को अपनी माता तथा अपने पिता के अपराधों का भी दण्ड भोगना पड़ता है। सरमा के पुत्रों को किसी न किसी अंश में अपनी माता के दण्ड तो भोगने ही पड़ेगें।'

वृहस्पति की उक्त व्यवस्था के अनुसार यमराज ने स्नेहवश सरमा और उसके पुत्रों के साथ गोदावरी के तटपर पंच देवताओं की अनेक वर्षों तक कठिन आराधना की जिससे उनके पापों का अधिकांश क्षय हो गया और यमराज के अनुरोध-पर सरमा तथा उसके पुत्रों को अपने-अपने पापों की लघुता तथा गुरुता के अनुरूप इन्द्र तथा अग्नि के शापों का फल भोगना पड़ा। इतना अवश्य हुआ कि तभी से देवताओं के यज्ञों में सरमा के वंशजों का प्रवेश भी वर्जित हो गया। यहां तक कि उनकी दृष्टि भी यज्ञ की सामग्रियों पर न पड़े-ऐसा कठोर नियम बना दिया गया। अलबत्ता, यम की इच्छा के अनुसार पितरों के कार्यों में सरमा के वंशजों की बलि देने की प्रथा आरम्भ की गई, और सरमा के दोनों पुत्रों को उन्हें अपने समीप रखने की आज्ञा पुनः दे दी गई। किन्तु पशुओं की वाणी के हरण का जो भीषण शाप अग्निदेव ने दिया था उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ और सरमा के अपराधों के कारण समूची पशु जाति की वाणी सदा-सर्वदा के लिए व्यर्थ हो गई।

———

कुरुक्षेत्र का नामकरण

कुरुक्षेत्र हमारे देश का परम प्राचीन तीर्थस्थल है। वेदों से लेकर पुराणों एवं धर्मशास्त्रों तक इसकी जो महिमा वर्णित है, उससे ज्ञात होता है कि कोई समय ऐसा भी था जब इस महान भूखण्ड की हमारे पूर्वजों के हृदय में अनुपम प्रतिष्ठा थी। यह न केवल तीर्थ-स्थल एवं तपोभूमि के रूप में ही ख्यात था प्रत्युत अपनी विशाल जनसंख्या, उत्तम कृषि, वाणिज्य एवं समृद्धि-स्थली रूप में भी इसकी प्रसिद्धि थी। महाभारत कार ने इसके सम्बन्ध में एक स्थल पर मनोहर विशेषणों का प्रयोग किया है,

जिसका सारांश यह है कि उस समय इस प्रदेश की जनता इतनी सुखी, समृद्ध तथा वैभव युक्त थी कि उसके पास हाथी, घोड़े, रथ एवं रत्नादि की भरमार थी। जन-संख्या इतनी अधिक थी कि यहां की पृथ्वी भार पीड़ित थी। इस भूखण्ड में जगह-जगह देवमंदिरों एवं यज्ञस्तम्भों की पंक्तियां विराजती थीं। यहां के सभी लोग हृष्ट पुष्ट और सुप्रसन्न थे। खेती की उपज अत्यधिक थी। और इस प्रकार इस राज्य की धरती अपने वैभव एवं सुसम्पन्नता के कारण भूमण्डल भर में सुप्रसिद्ध एवं सदैव शोभायुक्त रही।

किन्तु दुर्भाग्यवशात् एक बार इस प्रदेश पर इसके पड़ोसी पांचालों का ऐसा भयंकर आक्रमण हुआ, जिसके कारण यह अनेक वर्षों तक श्मशान ही बना रहा। उस समय इस भूखण्ड पर भरत वंशी राजा ऋक्ष के पुत्र संवरण का शासन था। संवरण यद्यपि कुशल प्रशासक था और प्रजा उस पर प्राण देती थी, तथापि पड़ोसी पांचालों से यह नहीं देखा गया और उन्होंने चतुर्मुखी आक्रमणकर इस प्रदेश को ऐसा ध्वस्त किया कि चिरकाल तक इस वीरान भूमि पर न कोई यज्ञ करने वाला रहा और न कोई कृषक रहा। पांचालों की दस अक्षौहिणी सेना

ने इस प्रदेश की पग-पग भूमि का ऐसा निर्दलन किया कि कोई युवक जीवित नहीं बचा। और जो बालक, वृद्ध, नर-नारी बचे वे क्षुधा, प्यास, अकालमृत्यु, अनावृष्टि एवं विकराल व्याधियों के गाल में सदा के लिए समा गए।

राजा संवरण यद्यपि कायर नहीं था, और उसमें पांचालों के प्रति तीव्र घृणा भरी थी, तथापि अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए उसने रण-भूमि से भागकर सिन्धु नद की दुर्गम घाटी में शरण ली। किसी पर्वतीय उपत्यका के समीप सिन्धु के तटवर्ती एक निकुंज में अपने स्त्री, पुत्र, सुहृद एवं मंत्रिमण्डल के सदस्यों के संग छिपे रहकर संवरण ने बहुत दिनों तक अयशस्वी जीवन व्यतीत किया किन्तु वहाँ रहकर भी वह गुप्तरीति से अपनी खोई हुई शक्ति के संचयन में लगा रहा। रणभूमि से भागकर एकान्त जंगल में छिपने वाले अयशस्वी राजा की सैन्यशक्ति का संचयन कोई सरल काम नहीं था फिर भी संवरण कभी हताश नहीं हुआ और उसने वहाँ की बनवासी जातियों से मिलाकर अपनी एक छोटी-सी सेना तैयार कर ली।

इधर समूचे कुरु प्रदेश की विजय के अनन्तर पांचालों का गर्व आकाश तक पहुँच चुका था। वे यह समझ बैठे थे कि अब इस धरती पर उनका सामना करनेवाला कोई राजा नहीं बचा है। इसका परिणाम यह हुआ कि आरम्भ के कुछ वर्षों तक सतर्क रहने के बाद वे प्रमाद और भोग-विलास का जीवन बिताने लगे। उनकी सैन्य-शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती गई और उनमें आपस में ही मनमुटाव पैदा हो गया, जो बाद में चलकर उनके विनाश का कारण बना।

सिन्धु तटवर्ती पर्वतीय उपत्यका में छिपे हुए राजा संवरण एवं उनकी उस लघु सेना की चर्चा पांचालों तक नहीं पहुँच सकी। उन्होने तो यही समझ रखा था कि संवरण या तो इस धरती पर नहीं है अथवा अपना साहस सदा के लिए त्याग कर कहीं दूर भाग गया होगा। किन्तु कुरु प्रदेश की बची खुची जनता संवरण के लिए अब भी रोती थी।

उसके सुशासन के स्वर्णिम दिनों की स्मृति में वह खाना-पीना तक भूल जाती थी। निदान प्रजावर्ग ने सर्वसमर्थ मुनिवर वसिष्ठ से सादर प्रार्थना की कि वे जैसे भी संभव हो, राजा संवरण का पता लगाकर उन्हें पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित कराने की कृपा करें।

महर्षि वसिष्ठ त्रिकालज्ञ एवं सर्वसमर्थ थे। संवरण ही नहीं समूचा भरत वंश उनकी कृपा का अनन्य भाजन रहा था। उन दिनों महर्षि वसिष्ठ का आश्रम कुरु प्रदेश में ही सरस्वती के पावन तट पर था। संवरण के पलायन के अनन्तर पांचालों ने उस भूखण्ड की जो दुर्दशा की थी, उससे वसिष्ठ को भी कम पीड़ा नहीं थी, किन्तु एक समदर्शी ऋषि के लिए यह असंभव था कि वह पांचालों के विरुद्ध भरतवंशियो का पक्ष लेते। अन्ततः कुरु-प्रदेश की जनता की सामूहिक प्रार्थना ने वसिष्ठ को भी द्रवित किया। उन्होंने संवरण के कुशल-क्षेम का पता लगाने का आश्वासन देकर प्रजावर्ग को विदा दी और एक दिन अपने आश्रम से चल कर वह संवरण एवं उनके परिजनों के बीच वहां पहुँच गए, जहाँ सिन्धुनदी के दुर्गम तट पर संवरण अपनी खोई शक्ति को पुनः प्राप्त करने की चिन्ता में दिन-रात व्यग्र था।

अपने आश्रम में मुनिवर वसिष्ठ के इस अप्रत्याशित आगमन को अपनी विजयश्री का सन्देश मानकर संवरण अति प्रसन्न हुआ। उसने अपने सीमित साधनों से मुनिवर वसिष्ठ का अर्घ्य पाद्यादि द्वारा विधिवत अर्चन किया और कुशल क्षेम की सूचना के अनन्तर अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करते हुए परम विनीत और करुण स्वर में बोला—

—'महामुने! हमारे इस पापी शरीर को इससे पूर्व ही समाप्त हो जाना चाहिए था, किन्तु जाने क्यों यह अब भी टिका हुआ है। मुझे अपनी पुत्रोपम-प्रिय प्रजा का ध्यान यदि सदैव न रहता तो अब तक सिन्धु की प्रचण्ड लहरों में समाकर मैं अपने इस कलंकी मुख को सदैव के लिए छिपा लेता। मुझे न दिन में भूख लगती है न रात्रि में निद्रा। सदैव अपने राज्य एवं प्रजा की दुर्दशा का स्मरण कर मैं दग्ध होता

रहता हूँ गुरुदेव ! क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे हमारी प्यारी प्रजा आततायी पांचालों की कुदृष्टि रूपी अग्नि से बच सके ।'

वसिष्ठ ने संवरण को आश्वस्त करते हुए कहा—'सौम्य । इस संसार-चक्र की गति विचित्र है । इसमें सदैव कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है । जो आज राजा है वह कब रंक बन सकता है, इसकी किसी को जानकारी नहीं है, और इसी प्रकार रंक को राजा बनाने में भी नियति को विलंब नहीं लगता । सम्पति और विपत्ति, सुख और दुःख दिन और रात के समान सभी प्राणियों के आगे-पीछे चलते रहते हैं । इस धरती पर ऐसा एक भी प्राणी तुम्हें नहीं मिलेगा, जो शरीर धारण कर इन द्वन्द्वों के चक्र में न पड़ता हो । अतः राजन् । तुम्हें अपनी इस स्थिति पर शोक नहीं करना चाहिए । मैं तुम्हारे एवं तुम्हारी प्रजा के उद्धार का कोई न कोई उपाय अवश्य करूंगा ।'

वसिष्ठ की अमृतोपम वाणी ने संवरण के चिरदग्ध एवं निराश अंतःस्थल को सुप्रसन्न कर दिया । वह मुनिवर वसिष्ठ के चरणों में दण्डवत प्रणिपात कर चुपचाप कृतज्ञता के आंसू बहाने लगा । उसे अपने एवं अपनी प्रजा के उद्धार का दृढ़ निश्चय हो गया । कुछ क्षणों तक चुप रहकर वह फिर बोला—

—'महामुने ! मेरी प्रार्थना है कि आप हमारे पुरोहित बन जायं और अपने खोए हुए राज्य की पुनः प्राप्ति के लिए जो उपाय हम कर रहे हैं, उन्हें अपनी सिद्धियों से बलवान बनाएं । भगवन् । हमारा सर्वस्व ही नहीं तन-प्राण भी आपके चरणों पर समर्पित है । यदि आप हमारा पुरोहित पद अस्वीकार करेंगे तो हमारा उद्धार कथमपि सम्भव नहीं है ।'

महामुनि वसिष्ठ यद्यपि वीतराग थे और किसी को यजमान बनाने की उन्हें कोई इच्छा नहीं थी तथापि भरत-वंशी संवरण की प्रार्थना को वे अस्वीकार नहीं कर सके । कुछ क्षण सोच विचार कर वे बोले—

'सौम्य ! यद्यपि तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करने में मेरी साधना का

पथ खर्वित होता है, तथापि तुम्हें अप्रसन्न करने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं इस प्रदेश की जनता के कल्याणार्थ ही नहीं समस्त भूमण्डल के कल्याण के लिए तुम्हें समस्त क्षत्रिय राजाओं के सम्राट पद पर अभिषिक्त करूंगा।'

संवरण की प्रसन्नता का पारावार अमर्यादित हो उठा। उसके परिजनों एवं वन में संघटित सेना में हर्ष की लहरें दौड़ गईं। सर्वसमर्थ महामुनि वसिष्ठ के इस अमोघ आश्वासन एवं आशीर्वचन को अन्यथा करने की शक्ति विधाता में भी नहीं है—यह वे जानते थे। निदान सिन्धु नद के पुण्य तटवर्ती उसी निकुंज में महामुनि वसिष्ठ ने संवरण को भूमण्डल भर के क्षत्रिय राजाओं के सम्राट-पद पर अभिषिक्त कर आशीर्वाद दिया—'राजन्। तुम्हारे वशजों का यह साम्राज्य भरत भूमि पर चिर- काल तक सुदृढ़ रहेगा।'

महामुनि वसिष्ठ का अमोघ आशीर्वाद फलित हुआ। संवरण ने अपनी उसी सुप्रशिक्षित लघु सेना के द्वारा पांचालों को पराजित कर न केवल अपने प्रदेश का शासन ही स्वायत्त किया वरन् पांचालों की छिन्न-भिन्न शक्ति को विनष्ट कर उनका राज्य भी अपने अधीन कर लिया। पांचाल विजय के अनन्तर अपनी सैन्य शक्ति को अनेक गुणित कर उन्होंने दिग्विजय की यात्रा की और थोड़े ही समय में समूची भारत भूमि एवं पड़ोसी विदेशी राज्यों को भी अपना करद बना लिया। वसिष्ठ जी के निर्देशों के अनुसार उन्होने अपने अधीनस्थ राज्यों का प्रशासन इतनी कुशलता एवं निष्पक्षता से किया कि वहाँ की प्रजा थोड़े ही दिनों में अपने-अपने राजाओं को भूल गई और संवरण के साम्राज्य के उदय में अपना सब प्रकार का मंगल मनाने लगी।

साम्राज्य विस्तार एवं सुशासन की स्थापना के अनन्तर सम्राट् संवरण ने ऐसे अनेक महायज्ञ किए जिनमें उनका राजकोश रिक्त हो गया। महर्षि वसिष्ठ की महानुभाविता एवं करुणा का प्रभाव उनके प्रशासन के प्रत्येक कार्य पर रहता। इन यज्ञों ने तो संवरण की कीर्ति-कौमुदी

का इतना विपुल विस्तार किया कि उसके अतीत जीवन की ओर किसी का ध्यान भी कभी न जाता। धरती के इन्द्र के समान समस्त ब्राह्मणों, यज्ञों एवं वैदिक विधि-विधानों के शरण दाता के रूप में एक ओर जहां उसकी दानशीलता एवं दयापरायणता की चर्चा होती वहीं, विधर्मी-विद्रोहियों के समक्ष कालदण्डधारी यमराज की मूर्ति के समान वह अति विकराल भी दिखाई पड़ता।

संवरण ने यद्यपि धरती के सभी भागों में अपना राज्य स्थापित किया था तथापि अपने प्राचीन सारस्वत प्रदेश के पुनरुद्धार की ओर उसकी विशेष चिन्ता थी। पांचालों ने इस भूखण्ड की जो दुर्दशा की थी, उसके कारण यहां का कृषि एवं वाणिज्य-व्यवसाय सब कुछ नष्ट हो चुका था। अनेक वर्षो की अनावृष्टि के कारण उर्वरा भूमि मरु-स्थली-सी बन गई थी। नगरों एवं गावों के खण्डहरों में वन्य जीव-जन्तुओं का निवास था और जहाँ कभी मनोहर उपवनों और निकुंजों के मध्य विविध प्रकार के पशु-पक्षियों की केलि होती थी वहां बालू के तीव्र झोकों से उठने वाले बवंडरों का नग्न नृत्य होता था। संवरण ने इसके लिए अथक प्रयत्न किया। उसने सींचाई की व्यवस्था के लिए कृत्रिम जल-प्रणालियां बनवाईं। बड़े बड़े सरोवर खनाए, नदियो के तटवर्ती भागों में फलों और पुष्पों वाले पेड़ पौधे लगवाए और अन्यान्य प्रदेशों के निवासियों को सादर बसा कर कृषि कर्म की सुव्यवस्था कराई। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में इस प्रदेश में सुख-समृद्धि का पुनरागमन हुआ और लोग यह भी भूल गए कि अतीत में पांचालों ने वहाँ की कितनी दुर्गति की थी।

सम्राट संवरण की पत्नी सूर्यवंश की राजकुमारी तपती थी, जिनके गर्भ से उन्हें परम तेजस्वी कुरु नामक पुत्र प्राप्त हुआ। कुरु में अपनी तेजस्विनी माता एवं पराक्रमी पिता के अंशों का उदय हुआ था। बाल्यकाल में ही उसमें अलौकिक प्रतिभा थी। जब वह नवयुवक हुआ और अपनी तेजस्विनी प्रतिभा एवं अदम्य पराक्रम से जन-मन को

मोहने लगा तो संवरण ने उसे युवराज के पद पर अभिषिक्त किया। अपने दिङ्मण्डल विजेता प्रतापी पिता के संग कुरु ने साम्राज्य के प्रशासन की उत्तम दीक्षा ग्रहण की। प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए उसने कोई उपाय नहीं छोड़ा। उसे यह बात बहुत खलती थी, जो राज्य की कृषियोग्य भूमि में अन्न की उपज कम हो रही थी। अतीत के अनेक वर्षों में मरुस्थली की भांति बिना जोते बोए राज्य का अधिकांश भूमाग रेतीली धूलों से भर गया था। वहां कोई अच्छी फसल नहीं हो पाती थी। पेड़-पौधे भी प्रसन्न नहीं रहते थे। युवराज कुरु ने पिता से आज्ञा प्राप्त कर उस भूमि खण्ड को स्वयं अपने हाथों से जोतना शुरू किया।

सम्राट का एकलौता पुत्र स्वयं हल चलाकर भूमि जोते—यह एक अद्भुत घटना थी, किन्तु कुरु ने इसकी चिन्ता ही नहीं की। वह अपने राज्य की भूमि को धरती का उत्तम खण्ड बनाना चाहता था। निदान प्रजा ने भी उसका अनुगमन किया और परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में वह भूमाग अपनी उर्वराशक्ति के कारण अनुपम बन गया।

कहते हैं, जब कुरु स्वयं हल चलाकर भूमि जोत रहा था तो स्वर्ग तक इसकी चर्चा पहुँची। देवराज इन्द्र को भी कुतूहल हुआ और वे स्वयं अपने रथ पर आरूढ़ होकर कुरु का दर्शन करने के लिए पृथ्वी पर उतरे। कुछ क्षणों तक निनिमेष नेत्रों से हल जोतते हुए कुरु को पसीने से लथपथ देखकर देवराज ने पूछा—

—'सौम्य ! सहस्रों दास-दासियों एवं कृषक वर्ग के होते हुए भी आप इस भूमि को अपने ही हाथों से क्यों जोत रहे हैं। आप क्या चाहते हैं। यदि अनुचित न समझें तो अपने अभिप्रेत की सूचना कृपाकर मुझे भी दें।'

देवराज इन्द्र को धरती पर स्वय उपस्थित देखकर भी कुरु अपने कार्य से विरत नहीं हुआ। बोला—

'देवराज ! हमारे राज्य का यह भू-खण्ड वर्षों से अनुर्वर होने के

कारण निर्जन एवं उपेक्षित बन गया है। मैं इसे उर्बर एवं आकर्षक बनाने के लिए स्वयं हल चला रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि यह पृथ्वी का एक अनुपम भूखण्ड बन जाय, जिससे यहां पर निवास करने वाले अथवा यहां रहकर प्राण त्यागने वाले प्राणियों को दोनों लोकों में सुख शान्ति की प्राप्ति हो। देवराज इन्द्र की समझ में कुरु की यह बात नहीं आ सकी। वे कुछ क्षण चुप रहकर सस्मित मुख बोले—

—'राजपुत्र! हल जातने से भूमि के उर्वरा होने में तो मुझे कोई सन्देह नहीं दिखाई पड़ता किन्तु उर्वरा भूमि में प्राण त्यागने वालों को परलोक में भी शुभ गति मिलेगी यह बात मेरी बुद्धि में नहीं आती। क्योंकि वेदों में शुभगति की प्राप्ति यज्ञों एवं दानादि सत्क्रियाओं द्वारा ही संभव बताई गई है। भला उदर-पोषण का यह मध्यम कार्य स्वर्गादि तपसुलभ उत्तम लोकों के लिए पाथेय कैसे बन सकता है? मेरी सम्मति में आप व्यर्थ ही इतना कष्ट उठा रहे हैं। यह कार्य तो आपकी शूद्रादि प्रजा एवं सेवक वर्गों के लिए ही उचित है। एक सम्राट के पुत्र की शोभा और कीर्ति उसकी रण-चातुरी एवं प्रशासन-पटुता में हैं। भला हल चलाने में निपुणता प्राप्त कर तुम अपनी कीर्ति को क्यों कलुषित कर रहे हो?'

राजपुत्र कुरु के लिए देवराज की इन उपहासजनक बातों का जैसे कोई मूल्य ही नहीं था। वह उसी तरह अपने काम में लगा रहा। न तो इन्द्र को कोई प्रत्युत्तर दिया और न उनके प्रस्थान के समय कोई अभिवादनादि ही किया। जब इसी तरह कुछ दिन और बीत गए तो एक बार फिर देवराज ने स्वर्ग से धरती पर उतरकर कुरु को डिगाने का असफल प्रयत्न किया, किन्तु इस बार यह सुनकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब कुरु ने अपनी इस जोती हुई भूमि के सम्बन्ध में यह आकांक्षा भी प्रकट की। कुरु ने कहा—

'देवराज! अब तो मैं इस भू-खण्ड को धरती का सर्वश्रेष्ठ भाग बनाने के लिए प्रयत्नशील हूँ। मेरी इच्छा है कि जो कोई मनुष्य इस

क्षेत्र में आकर शरीर त्याग करे वह पुण्यात्माओं के पापरहित लोकों में जाय।'

इन्द्र ने पूर्ववत् उपहास के स्वर में कहा—'राजकुमार! हल चलाकर स्वर्गादि दुर्लभ लोकों की सिद्धि को सुलभ करने का तुम्हारा यह प्रयत्न बालकों के उन प्रयत्नों के समान है जो बालू की दीवालों पर पुल बनाकर अगाध नदियों को पार करना चाहते हैं। भला अश्वमेधादि दुष्कर यज्ञों द्वारा मिलने वाले लोकों की प्राप्ति यहां आकर मरने वाले मनुष्य कैसे कर सकते हैं। हां, तुम्हारी यह भूमि अनुपम उर्वरा हो सकती है—यह मैं मान लेता हूँ।'

किन्तु इस बार भी कुरु ने अपने हल की मुठिया का छोड़ना तो दूर देवराज इन्द्र के चमकते हुए दिव्य स्यन्दन की ओर आंखे उठाकर देखा भी नहीं। इन्द्र जैसे आए थे, फिर वापस चले गए। इस बार धरती से लौटते समय वे अपने हृदय में इस बात की विशेष चिन्ता लेकर गए कि कुरु के समान तेजस्वी एवं सत्याग्रही का श्रम कभी व्यर्थ नहीं हो सकता। और यदि ऐसा हुआ तो इस भूमिखण्ड में आकर प्राण त्यागने वाले मनुष्य बिना हमारा पूजन किए ही स्वर्ग लोक में पहुँच जायेंगे। और तब तो हम लोगों का एवं यज्ञों का प्रभाव ही नष्ट हो जायगा। ऐसा कदापि न होना चाहिए।

देवराज इन्द्र की यह मानसिक चिन्ता धरती से उनके निराश लौटने पर फैलकर क्षण भर में ही स्वर्गलोकवासी देवताओं की पीड़ा बन गई। फिर तो देवताओं एवं देवगुरु वृहस्पति के अनुरोध को अंगीकार कर देवराज इन्द्र पुनः कुरु के समीप धरती पर आकर उपस्थित हुए। इस बार उनके मुख पर वह उपेक्षा पूर्ण मुस्कराहट नहीं थी और न उनकी वाणी में कुरु को अपमानित करने का व्यंग ही छिपा था। हृदय में चिन्ता एवं मुखमण्डल पर गंभीरता की वक्र रेखाओं से उन्होंने आते ही कुरु का अभिनन्दन किया और धीर गंभीर स्वर में बोले—

'राजपुत्र कुरु ! तुम्हारी अखर्वित साधना को सिद्धि मिलने की मंगल बेला अब आ गई है। तुम कृतार्थ हुए। मैं तुझे पर परम प्रसन्न होकर यह वरदान देने आया हूँ कि आज से जो कोई मानव-जन्मा इस पुण्य भूमि पर किसी भी व्याज से प्राण त्याग करेगा, वह स्वर्गादि दुर्लभ लोकों में निवास करेगा। बस यही तो तुम्हारी अभिलाषा रही है। अब बंद करो अपनी इस अलौकिक रीति-नीति को। एक सम्राट के पुत्र के लिए सर्वथा अकरणीय यह जो कार्य तुमने किया है, उसकी प्रशंसा सर्वत्र और सर्वदा होगी और यह पुण्य भूमि सदैव तुम्हारे नाम के साथ सुप्रसिद्ध रहेगी।'

देवराज की अमृतवाणी ने राजकुमार कुरु के अभिलाषी अन्तर में विद्यमान द्वन्द्वों का उपशमन कर दिया। इस बार उसने हल की मुठिया छोड़कर देवराज इन्द्र का विधिवत अभिनन्दन किया और उन्हें हार्दिक विदा दी।

और तभी से यह पुण्य-भूमि कुरु-क्षेत्र समस्त भारत भूमि की सिद्धि-भूमि के रूप में विख्यात हुई और आज भी उसकी वह महिमा शास्त्रों में एवं लोक-मानस में अक्षुण्ण बनी हुई है।

वीतहव्य का जाति-परिवर्तन

प्राचीनकाल में एक बार वत्सराज के वंशजों और काशिराज में किसी कारण वश प्रबल शत्रुता पैदा हो गई थी। उस समय वत्स के सिंहासन पर हैहयवंशी वीतहव्य का राज्य था और काशी के सिंहासन पर सुप्रसिद्ध काशिराज दिवोदास के पितामह महाराज हर्यश्व राज्य करते थे। महाराज हर्यश्व बड़े ही न्यायप्रिय, यज्ञ-परायण तथा दीन-दुःखियो एवं शरणागतों के रक्षक थे। उनकी शूरता और निर्भयता की चर्चा समस्त भूमण्डल भर में फैली हुई थी। यद्यपि उनकी सैन्य-शक्ति अपार थी और संसार के विजयशील राजाओं में उनकी गणना होती थी तथापि अपने परोपकारी स्वभाव एवं शान्तिप्रियता के कारण महाराज हर्यश्व ने कभी अपने किसी पड़ोसी राज्य पर आक्रमण नहीं किया और न किसी को नाहक परेशान ही किया।

इस प्रकार बहुत दिनों तक काशिराज हर्यश्व का शासनकाल बड़ी शान्ति से बीत रहा था कि उनकी वृद्धावस्था में वत्स के शासक वीतहव्य के साथ किसी मामूली बात पर उनका तीव्र विवाद हो गया। राजा वीतहव्य भी यद्यपि शान्तिप्रिय था और अपने शासनकाल के आरम्भ से ही काशिराज हर्यश्व का प्रशंसक था तथापि वृद्धावस्था में उसके उद्दण्ड पुत्रों के कारण उसकी एक नहीं चल पाती थी। राजा वीतहव्य को दस रानियां थी और उनसे एक सौ पुत्र थे, जो सब के सब परम साहसी, निर्भय तथा धनुर्धर थे। उन सब में आपस में बड़ा मेल था और वे मिलकर जब किसी राजा या भूभाग पर आक्रमण कर देते थे तो वहाँ प्रलय मचा देते थे।

वीतहव्य के मना करने पर भी उसके पुत्रों ने काशिराज की सीमा पर जब प्रबल आक्रमण कर दिया तो काशिराज हर्यश्व को बड़ा विस्मय

हुआ किन्तु सामना तो उन्हें करना ही था। उस समय काशिराज की सीमा गंगा-यमुना के मध्यवर्ती भाग तक वत्सराज की सीमा का स्पर्श करती थी। अतः वत्सों ने जब वायुवेग से काशिराज की सीमा का अतिक्रमण किया तो काशिराज की सेना ने बड़ी शक्ति के साथ उनका मुकाबला किया। किन्तु वत्सों की सैन्य-शक्ति एवं आक्रमण-योजना इतनी संतुलित थी कि उनके सामने काशिराज के सैनिकों के कदम उखड़ गए और वे प्रलंयकर बाढ़ के समान काशिराज की प्रजा को तहस-नहस करते हुए आगे बढ़ने लगे।

अपने गुप्तचरों द्वारा यह उत्तेजक समाचार पाकर काशिराज हर्यंश्व ने आगे बढ़कर बड़ी शक्ति के साथ वत्सों के आक्रमण का सामना शुरू किया। किन्तु वत्स की अनेक प्रकार की सैन्य-शक्ति एवं विजयोत्साह की लहर के सामने काशिराज की एक नहीं चली। वीतहव्य के महाबलशाली पुत्रों के सामने काशिराज के सैनिकों का साहस भंग हो गया और थोड़े ही दिनों के युद्ध के अनन्तर वत्सों ने काशिराज की सेना को विनष्ट करके महाराज हर्यंश्व को भी मार गिराया। ऐसा अनुमान है कि गंगा-यमुना के पवित्र संगमस्थल से कुछ योजन पश्चिम कदाचित् कौशाम्बी के पास उनका यह भयंकर युद्ध सम्पन्न हुआ था।

उधर वत्सराज वीतहव्य को जब काशिराज हर्यंश्व के मारे जाने की सूचना मिली तो उन्होंने अपने पुत्रों को आगे बढ़ने से तत्काल मना कर दिया जिससे वे लोग काशिराज के विजित भूभाग को रौंदते हुए अपनी राजधानी को वापस लौट गए। कदाचित् काशिराज हर्यंश्व के साथ व्यक्तिगत शत्रुता के कारण ही उन्होंने अपने पुत्रों को यह आदेश दिया हो। किन्तु अपनी राजधानी को वापस लौटते हुए वत्स के राजकुमारों ने काशिराज की प्रजा पर जो घोर अत्याचार किया उसे वहाँ चिरकाल तक स्मरण किया जाता रहा।

इधर महाराज हर्यंश्व की मृत्यु के अनन्तर उनके पुत्र सुदेव को काशिराज की गद्दी पर जब अभिषिक्त किया गया तो काशी की प्रजा

का मनस्ताप कुछ अंशों में दूर हुआ। सुदेव अपने पिता की भांति ही न्यायपरायण तथा धार्मिक था। उसका स्वरूप एवं तेज देवताओं की भांति था और वह प्रतिदिन नियमपूर्वक यज्ञ और दान करता था। उसने बड़ी निष्पक्षता, न्यायपरायणता एवं धर्मनीति के साथ अपने राज्य का कार्यभार जब भलीभांति सम्हाल लिया तो काशी की प्रजा का दु:ख दूर हो गया और थोड़े ही दिनों के भीतर वहां के लोग महाराज हर्यश्व को भुलाने लगे। किन्तु इसी बीच वत्सराज के आततायी राजकुमारों ने काशिराज पर पुनः घोर आक्रमण किया और सुदीर्घकाल तक चलने वाले भयंकर युद्ध के अनन्तर महाराज सुदेव को भी हर्यश्व की भांति मारकर धराशायी बना दिया। और इस बार भी वे काशिराज की राजधानी एवं मार्गस्थ भूभाग को रौंदते हुए वत्स को वापस चले गए।

इस बार की तबाही उल्लेखनीय थी। काशिराज की राजधानी मानों श्मशान के समान नीरव बन गई थी और उनकी सेना के अधिकांश सैनिक हताहत होकर बेकाम हो चुके थे। कुछ जान बचाकर भाग गए थे और सम्पूर्ण प्रजावर्ग में हाहाकार मचा था।

सुदेव के अनन्तर उसके पुत्र दिवोदास का काशिराज के पद पर जब अभिषेक किया गया तो प्रजा को बड़ी आशा बंधी। दिवोदास देवताओं के समान पराक्रमी तथा यज्ञ दानादि के प्रति अनन्य निष्ठा रखता था। देवराज इन्द्र से उसकी अच्छी मैत्री थी और वह पराक्रमी तथा मनस्वी भी उच्चकोटि का था। अपने बाल्य जीवन से ही वत्सों के प्रति उसके हृदय में घृणा और द्वेष भरा था। अपने राज्याभिषेक के अनन्तर उसने अपनी राजधानी का नवनिर्माण कराया।

महाभारतकार का कथन है कि महाराज दिवोदास ने देवराज इन्द्र की आज्ञा से अपनी राजधानी वाराणसी की पुनः स्थापना की। वाराणसी नगरी को उन्होंने सब प्रकार से शत्रुओं के लिए दुर्भेद्य बनवाया। उसकी एक सीमा गंगा के तट से स्पर्श करती थी और उसके दूसरी ओर

गोमती का दक्षिण तट था। इस मनोहर नगरी की स्थापना बहुत कुछ देवराज इन्द्र की अमरावती के ढंग पर की गई थी। इसमें चारों वर्णों के लोगों के मनोहर निवास-स्थान थे और मुख्य बाजार विविध प्रकार के द्रव्यों और दुर्लभ वस्तुओं से भरा हुआ था। वाराणसी की चतुर्दिक श्री-सम्पन्नता एवं वैभव की मोहक छटा को देखकर भूमण्डल भर के लोग उसमें निवास करने के लिए लालायित होते थे और स्वयं देवराज इन्द्र भी उसकी प्रशंसा किया करते थे।

राजा दिवोदास का शासन प्रबन्ध भी अत्युत्तम था। उसने अपने पूर्वजों की उत्तम शासन पद्धति में आवश्यकतानुसार नवीन सुधार करके अपनी प्रजा के हृदय में पिता जैसी अगाध श्रद्धा प्राप्त की थी। वह अपनी सेना के संघटन पर रातदिन ध्यान देकर उसे भूमण्डलभर में सब से अधिक शक्तिशाली बनाने का अभिलाषी था।

किन्तु दुर्भाग्य से अभी दिवोदास को सैन्य-शक्ति का कुछ ही अंश पुनगठित हुआ था कि वत्स के आततायी राजकुमारों ने अपनी द्विगुणित सैन्य शक्ति से वाराणसी पर ऐसा जबरदस्त आक्रमण किया कि बेचारे दिवोदास के पैर जम नहीं सके और दीर्घकाल तक मोरचा संभाले रहने के बाद भी वह अपनी ही राजधानी में बुरी तरह पराजित होकर रणभूमि छोड़ कर भाग जाने के लिए विवश हो गया।

कहते हैं, वत्सों के साथ दिवोदास का यह भयंकर युद्ध लगातार एक हजार दिनों तक चलता रहा। और वीरवर दिवोदास ने ऐसी दृढ़ता एवं साहसिकता का परिचय दिया कि वत्सों का साहस समाप्त होने को आ गया था कि अन्त में दीर्घकाल के अवरोध के कारण पहले काशिराज का ही साहस टूट गया। उसकी सेना शस्त्रास्त्रों के अभाव से नितान्त जर्जर हो गई थी। वाराणसी के चारों ओर वत्स की सेनाओं ने ऐसा घेरा डाल दिया था कि उसे बाहर से कोई रसद तक नहीं मिल सकती थी। दिवोदास का सम्पूर्ण राजकोष रिक्त हो चुका था, प्रजावर्ग में इतने दोर्घकाल के अवरोध के कारण हीन भावना का उदय हो चला

था और वह शीघ्र से शीघ्र इस दुर्गति पूर्ण स्थिति का अन्त देखना चाहती थी। अतः दिवोदास ने बिना किसी से कुछ कहे-सुने वेश बदल कर अपने बचे-खुचे परिवार के साथ रात्रि की निर्जनता में वाराणसी त्याग दिया और दूसरे दिन उसके सपरिवार रणभूमि से पलायन कर जाने की हर्षोत्पादक घोषणा के साथ वत्सों का विजयाभियान भी समाप्त हो गया। उनकी भी शक्ति समाप्ति पर थी, अतः दूसरे दिन वे लोग भी चुपचाप अपनी राजधानी को वापस लौट गए और पिछले अभियानों की तरह इस बार लूट-खसोट की घटनाएं नहीं होने दीं।

वाराणसी से पलायन कर राजा दिवोदास ने अपने कुलगुरु भरद्वाज के आश्रम में सपरिवार शरण ली। महर्षि भरद्वाज काशिराज की विपदा से सुपरिचित थे अतः अपने आश्रम में आए हुए राजा दिवोदास और उनके परिवार का उन्होंने यथोचित आदर-सत्कार किया।

वत्सों की इस वंशपरम्परागत शत्रुता से दिवोदास का साहसटूट चुका था। इस युद्ध में तो उसके कुल का ही समूचे विनाश हो चुका था अत: भरद्वाज के आश्वासनों पर आँसू बहाते हुए जब उसने अत्यन्त कातर होकर यह प्रार्थना की तो महर्षि भरद्वाज के नेत्र भी सजल हो उठे और हृदय उमड़ पड़ा।

दिवोदास ने कहा—'पूज्य आचार्य ! न जाने किस जन्म के पापों के कारण आज मैं अकेला इस दुर्गति को देखने के लिए बच गया हूँ। मेरा ऐतिहासिक कुल समूल विनष्ट हो गया है। आततायी वत्सों ने मेरी आंखों के सामने मेरे कुल का और मेरे राज्य का अन्त कर दिया है। मैं इतना हताश हो गया हूँ कि मुझे अपने पुनरुद्धार का आपके सिवा कोई मार्ग नहीं दिखाई पड़ रहा है। आप मेरे गुरु हैं, मैं आपका हतभाग्य शिष्य हूँ। अपने अभागे शिष्य के प्रति गुरु की जो सहज करुणा होती है, उसी की याचना के लिए मैं रणभूमि से भागकर यहां आया हूँ। आप ही मेरी आशाओं के एकमात्र संबल है। यदि ऐसे कठिन अवसर पर आप मेरी रक्षा नहीं करते तो मेरा

निस्तार सम्भव नहीं है और मेरे दिवंगत पूर्वजों की आत्मा भी अनन्त-काल तक सन्तप्त रहेगी। अतः जैसे भी हो, इन आततायी वत्सों से मेरी तथा मेरे राज्य की रक्षा का आप उपाय करें गुरुदेव !'

दिवोदास की इस प्रार्थना ने महर्षि भरद्वाज को अत्यन्त विगलित कर दिया। भूमण्डल भर में सुप्रसिद्ध काशिराज के एक सुयोग्य वंशज द्वारा इस प्रकार की कातर वाणी को सुनकर वह काँप-से उठे। अपने इस अभागे शिष्य के प्रति उनके हृदय में ममत्व का ऐसा तूफान उठा कि उन्होंने दिवोदास को अपने गले से लगाकर उसके मस्तक को अपनी आंसुओं से सींचते हुए कहा—

'प्रजानाथ दिवोदास ! तुम निर्भय बनों। इस संसार में मेरे रहते तुम्हें अब किसी का भी भय नहीं करना चाहिए। उद्दण्ड काल भी तुम्हारा अब कुछ नहीं कर सकता वत्स ! मैं अपनी सम्पूर्ण साधना और तपस्या को दाँव पर लगाकर भी तुम्हारी रक्षा करने के लिए तैयार हूँ। लगता है, आततायी वत्सों के समूलोच्छेद की बेला आ गई है।'

महर्षि भरद्वाज की इस रोमांचक वाणी ने दिवोदास को धन्य कर दिया।

तदनन्तर महर्षि भरद्वाज ने काशिराज दिवोदास से अपने आश्रम में ही एक पुत्रेष्ठि यज्ञ सम्पन्न कराया, जिसकी निर्विघ्न समाप्ति के एक वर्ष के अनन्तर राजा दिवोदास को एक अलौकिक तेजस्विता एवं प्रतिभा से सम्पन्न पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम स्वयं महर्षि भरद्वाज ने ही प्रतर्दन रखा।

राजकुमार प्रतर्दन जन्मकाल से ही अलौकिक रूप,तेज एवं प्रतिभा से सम्पन्न था। शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति पन्द्रह वर्ष की छोटी उम्र में ही वह इतना बलवान, पराक्रमी तथा निर्भय बन गया कि अकेले ही बड़े-बड़े उन्मत्त गजराजों के दांत उखाड़ लेता, सिंहों को निस्तेज कर देता और धरती पर ऐसा एक भी वीर नहीं होता, जिससे मल्लयुद्ध के लिए वह चुनौती न दे देता।

योगीश्वर भरद्वाज ने स्वयं प्रतर्दन की शिक्षा-दीक्षा दी थी। वेदों समेत समग्र शास्त्रों एवं धनुर्वेद में पारंगत होकर प्रतर्दन ने योगशास्त्र में भी अद्भुत सफलता प्राप्त की। ऐसा मालूम पड़ता था मानों भरद्वाज की सम्पूर्ण साधना के फलस्वरूप उसके शरीर में सम्पूर्ण जगत का वर्चस्व भर गया हो। महर्षि भरद्वाज ने अपने अमोघ मंत्रों से अभिमंत्रित कर उसके लिए एक ऐसे दुर्भेद्य कवच की व्यवस्था की जैसा अब तक संसार में किसी के पास नहीं था। और इसी कोटि का उसके लिए एक धनुष भी निर्मित कराया।

अन्त में एक दिन भरद्वाज की प्रेरणा पर कुमार प्रतर्दन ने जब अपना दुर्भेद्य कवच पहन कर अपना अमोघ धनुष बाण धारण किया तो अकस्मात वत्सों की राजधानी में अमांगलिक उत्पात होने लगे। देवगण समूह में एकत्र होकर प्रतर्दन का गुणगान करने लगे और काशी की जनता में शुभ शकुनों की बाढ़ सी आ गई। ग्रीष्म के बाल सूर्य की भांति अपने कुमार प्रतर्दन को देखकर राजा दिवोदास को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अब उसकी विपदाओं का अन्त समीप है। उसने अपने गले से लगाकर अपने तेजस्वी कुमार का अभिनन्दन किया और उससे जीवन में प्रथम बार वत्सों के साथ अपने पूर्वजों तथा स्वयं अपने साथ घटी हुई दुर्घटनाओं की संक्षिप्त चर्चा करते हुए साश्रु-नयन कहा—

'आयुष्मन्! आततायी वत्सों का समूलोच्छेद किए बिना मेरे हृदय की जलन शान्त नहीं होगी। उन्होंने काशी राज्य एवं उसके राज-वंश का अनेक बार विध्वंस किया है। तुम्हारे अनेक सुयोग्य भाइयों का उन्होंने बध कर डाला है। तुम्हारे पितामह आदि का भी उन्होंने संहार किया है। रणभूमि में उनसे अनेक बार पराजित होने के कारण हमारे राजवंश की प्रतिष्ठा धूल में मिल चुकी है। अतः तुम जबतक उनका समूलोच्छेद नहीं कर लोगे तबतक हम अपनी राजधानी वाराणसी की ओर प्रस्थान नहीं करेंगे।'

कुमार प्रतर्दन ने अपने पिता को आश्वस्त करते हुए कहा—'पूज्यतात ! आप चिन्ता न करें। आततायी वत्सों के समूल विनाश की घड़ी अब दूर नहीं है। मैं थोड़े ही दिनों में उनका विनाश करके ही चैन लूंगा।'

तदनन्तर महर्षि भरद्वाज की प्रेरणा से काशिराज दिवोदास ने कुमार प्रतर्दन की सहायता के लिए एक ऐसे सुदृढ़ सैन्य दल का संघटन किया, जो एक बार यमराज से भी लोहा लेने के लिए कटिबद्ध था। अन्ततः भरद्वाज द्वारा निर्दिष्ट एक शुभ घड़ी में काशिराज दिवोदास ने वत्सों पर कुमार प्रतर्दन के अचानक अभियान की जब घोषणा कर दी तो चिर सन्तप्त काशी की अगणित प्रजा ने भी वत्सों पर किए गए इस अभियानदल की सब प्रकार से सहायता की। परिणाम वही हुआ, जो होना था। वत्सों ने बड़ी शक्ति के साथ प्रतर्दन का सामना किया किन्तु अन्त में उन्हें पराजित होना पड़ा। उनकी समूची सेना का ही विध्वंस नहीं हुआ, अपने पूर्वजों के संहार एवं अपमान से जलते हुए कुमार प्रतर्दन ने वत्सराज के वंशधारियों में से किसी को भी जीवित नहीं छोड़ा। वत्स की राजधानी श्मशान बन गई। रणभूमि की भयंकरता देखकर देवगण भी त्राहि-त्राहि करने लगे। यद्यपि प्रतर्दन की सैन्य-शक्ति को भी बड़ा जबर्दस्त सामना करना पड़ा था और उसके प्रमुख सैनिकों का भी सफाया हो चुका था किन्तु प्रतर्दन को इसकी चिन्ता नहीं थी। उसकी मुख्य चिन्ता यही थी कि वत्सों का एक भी वंशधर जीवित बचकर भाग न सके।

किन्तु प्रतर्दन की यह अभिलाषा पूरी नहीं हुई। वत्सराज बीतहव्य ने जब देखा कि उसके वंशजों का समूलोच्छेद हो चुका है तो दिवोदास की भांति वह भी रणभूमि से किसी प्रकार बचकर भाग निकला और अपने प्राणों की रक्षा के लिए महर्षि भृगु के आश्रम में जाकर शरण ली। यद्यपि रणभूमि के नियमों के अनुसार प्रतर्दन को बीतहव्य का पीछा नहीं करना चाहिए था तथापि अपने पूर्वजों तथा अपने पिता के अपमान से उसका हृदय इतना जल रहा था कि बीतहव्य

के भृगुआश्रम में शरण लेने की बात सुनते ही वह तत्काल शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर भृगु आश्रम की ओर चल पड़ा।

तब तक राजा बीतहव्य को महर्षि भृगु द्वारा शरणागत-रक्षा का अमोघ अश्वासन मिल चुका था। क्रोध तथा आवेश से भरा प्रतर्दन जब महर्षि भृगु के आश्रम में पहुँचा और अपने दूतों से महर्षि भृगु के समीप वत्सराज बीतहव्य को आश्रम से बाहर निकाल देने की प्रार्थना भिजवाई तो महर्षि भृगु स्वयं कुमार प्रतर्दन के सामने उपस्थित हो गए। उन्होंने विधिपूर्वक कुमार प्रतर्दन का स्वागत-सत्कार किया और इस प्रकार अपने आश्रम में वीतहव्य के खोजने का कारण पूछा—

प्रतर्दन ने कहा—'ब्रह्मन्! वत्सराज वीतहव्य और उसके आततायी पुत्रों ने मेरे सम्पूर्ण कुल का विनाश कर दिया है। उन्होंने सम्पूर्ण काशीराज को तहस नहस करके हमारे रत्नों का संग्रह लूट लिया है। उन्होंने अपने बल के अभिमान में अनेक बार हमारे राजवंश की प्रतिष्ठा नष्ट की है। इसके घमंडी पूर्वजों तथा वंशजों ने मेरे पूर्वजों का विनाश किया है। अत: मैंने उन्हें तो मार डाला है, अब केवल यही रणभूमि छोड़कर भाग आया है। आप कृपाकर उसे अपने आश्रम से बाहर निकाल दीजिए जिससे उसका भी वध करके मैं अपने पिता तथा पूर्वजों से अनृण हो जाऊँ।'

महर्षि भृगु कुछ क्षण तो चुप रहे। फिर दयार्द्र भाव से बोले—'राजन्! मेरे आश्रम में यहाँ कोई भी क्षत्रिय नहीं है, ये सब ब्राह्मण हैं, जो आपके लिए सर्वथा अवध्य हैं।''

महर्षि भृगु की यह सीधी सादी बात सुनकर प्रतर्दन का क्रोध जाने कैसे दूर हो गया। उसने भृगु के चरणों पर दण्डवत प्रणिपात करके सदय वाणी में कहा—भगवन्! यदि ऐसी बात है तो मैं सचमुच कृत-कृत्य हो गया। क्योंकि अपने पराक्रम से मैंने उस पराक्रमान्ध राजा को अपनी जाति त्याग देने के लिए विवश कर दिया। अब मैं उसका वध नहीं करना चाहता। आप प्रसन्न हों और मुझे अपनी राजधानी को

वापस जाने की आज्ञा देकर कृपया मेरा कल्याण का चिन्तन करते रहें ।'

महर्षि भृगु ने प्रतर्दन का अभिनन्दन करते हुए कहा—'नरेश्वर ! आप संसार के वीरपुरुषों में शिरोमणि हैं । आपका सब प्रकार से कल्याण हो। आपका राज्य सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओं से मुक्त रहेगा और आपके पूर्वजों को भी आपकी सत्क्रियाओं से परमतृप्ति प्राप्त होगी। आप सचमुच कृतार्थ हैं ।'

इस प्रकार महर्षि भृगु का आशीर्वाद पाने के अनन्तर काशिराज प्रतर्दन का क्रोध सदा के लिए शान्त हो गया और विष से उन्मुक्त सर्प की भांति वह तीव्र वेग से अपनी राजधानी को वापस लौट आया। उसकी इस अपूर्व वत्स-विजय की यात्रा का महर्षि भरद्वाज तथा महाराज दिवोदास के संग काशीराज्य की समूची प्रजा ने हार्दिक अभिनन्द किया, क्योंकि उसने वत्स के सम्पूर्ण राज्य को काशीराज्य के अधीन करके उसकी सीमा को बहुत अधिक बढ़ा दिया था। और कशिराज की चिरकाल से नष्ट प्रतिष्ठा को अत्यधिक ऊँची कर दिया था ।

———

च्यवन का जन्म

ऋषिकन्या पुलोमा की अनुपम सुन्दरता की चर्चा देश के कोने-कोने में फैली थी। जब वह भोली-भाली बालिका थी तभी उसके लोक-विमोहक सौन्दर्य को देखकर मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी तक मोहित हो जाते थे। हरिणियाँ उसके दीर्घायत नेत्रों मे अपने शिशुओं जैसी चपलता देखकर बिना बुलाए ही उसके समीप पहुँच जाती थीं। गौएं अपने समीप उसे देखकर वत्सलता से रँभाने लगती थीं। पक्षी वृन्द उसे आते-जाते देखते थे तो अपने मनोहर कलरव से उसका स्वागत करने लगते थे। वह थोड़े ही दिनो में सयानी हो गई। अपने माता-पिता की वह लाड़ली बेटी थी। ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सांसारिक सुख- साधनों की प्रचुरता तो नहीं होती थी, क्योंकि जो कुछ अनायास और अयाचित मिल जाता था, वही उनकी जीविका एवं जीवन-यापन का साधन होता था किन्तु पुलोमा के माता पिता की स्थिति कुछ भिन्न थी। वह न तो कुलपति थे और न अन्यान्य ऋषियों की भाँति सांसारिक विषयों से नितान्त विरक्त थे। उनकी एक छोटी सी गृहस्थी थी, जिसमें अपार सुख-शान्ति के बीच पुलोमा के मृदुल स्वभाव के कारण दिन-रात अमृत की वर्षा हुआ करती थी। माता-पिता के अपार स्नेह तथा आदर से भरे वातावरण में पुलोमा को संसार की किसी भी वस्तु का अभाव कभी नहीं खला। वह जो कुछ चाहती थी, उसकी पूर्ति तत्काल की जाती थी और जो कुछ नहीं चाहती थी वह सदैव उसके माता-पिता के लिए शास्त्र की आज्ञा के समान निषिद्ध होता था।

एक बार पुलोमा को अजीब सूझी। उसने अपने भोले-भाले स्नेही पिता से नीलाकाश में झिलमिलाते हुए तारों के मध्य उदयाचल पर आरूढ़ चन्द्रमा को पकड़ने का या उसके समीप तक चलने का दुराग्रह किया। वह वसन्त ऋतु के कृष्ण-पक्ष की चतुर्थी तिथि थी। आश्रम के चारों ओर सर्वत्र सुन्दरता एवं सुगन्धि बिखरी

हुई थी। पुलोमा सृष्टि के इस सर्वव्यापी सौन्दर्य में चन्द्रमा की नूतन किरणों का नर्तन देखकर आत्म-विभोर हो उठी थी। वह आकाश-चारी नक्षत्रों को देखदेखकर पहले तो अपने पिता से उनका परिचय पूछती रही किन्तु जब अकस्मात् पूर्व दिशा का एक अंचल अरुणाभ हो उठा और देखते ही देखते मनोहर चन्द्रमा के क्षितिज प्रवेश के साथ साथ अग-जग का अन्धकार विलीन होने लगा तो पुलोमा अपार प्रसन्नता से नाच उठी। उसने अपने आग्रहों की पूर्ति में सदैव तत्पर रहने वाले स्नेही पिता से कहा—'तात ! मुझे उस चन्द्रमा के समीप ले चलिए जो अपनी मनोहर किरणों से मेरे अन्तरतम में भी उजाला फैला रहा है।'

पिता ने मृदुल मनोहर शब्दों में पुलोमा को फुसलाने की असफल चेष्टा की। 'बेटी ! वह चन्द्रमा हमारी धरती से लाखों योजन दूर है; उसके समीप तो हम जीवन भर चलकर भी नहीं पहुँच सकेंगे।'

बेटी निराश नहीं हुई। तत्क्षण बोली—'तात वह सामने दिखाई पड़ने वाला चन्द्रमा हमसे लाखों योजन दूर भला कैसे हो सकता है। क्योंकि हमारी आँखे इतनी दूर की वस्तु भला कैसे देख सकती हैं। आप मुझे वरगलाएं नहीं, मैं तो चन्द्रमा तक चलकर ही सुखी हो सकूंगी तात ! आप मुझे वहाँ तक अवश्य ले चलिए।'

पिता कुछ हतप्रभ हुए क्योंकि चन्द्रमा तक चलना तो असंभव ही था। कुछ सोच कर गम्भीरता से बोले—'बेटी ! अब आज तो रात अधिक बीत चुकी है, हम लोग कल चन्द्रमा के समीप चलने का प्रयत्न करेंगे। देखो अब तो सोने का समय हो गया है न ?'

पुलोमा को सचमुच नींद पहले ही से सता रही थी। अतः पिता के प्रस्ताव पर सहमति देकर वह कुछ ही क्षणों बाद सो गई। उधर पुलोमा के पिता अपनी बेटी के इस दुराग्रह के कारण विशेष चिन्तित हुए क्योंकि वह जानते थे कि पुलोमा इतनी सरलता से कोई बात मानने वाली नहीं है। और वह बहुत देर बाद तक इस कठिन समस्या को सुलझाने की व्यर्थ चेष्टा करते रहे।

दूसरे दिन चन्द्रोदय होने की उत्सुक प्रतीक्षा में पुलोमा के एक-एक क्षण बड़ी कठिनाई से बीत रहे थे और वह दिन में ही बारम्बार अपने पिता से चन्द्रमा तक चलने का स्मरण दिलाती जा रही थी। किन्तु उस रात्रि चन्द्रोदय के पूर्व ही वह सो गई और इस प्रकार कृष्णपक्ष भर चन्द्रमा तक चलने का उसका दुराग्रह इसलिए पूरा करना असम्भव रहा कि चन्द्रमा दिखाई ही नहीं पड़े, चन्द्रोंदय होने के पूर्व ही वह सो जाती रही। किन्तु जब शुक्ल पक्ष आया और चैत्री पूर्णिमा के कुछ ही दिन शेष रह गए तो पुलोमा का प्रतिदिन अपने स्नेही पिता से चन्द्रमा तक चलने का दुराग्रह कठोर होता गया और अन्त में एक दिन उसने अपना अन्न-पानादि त्यागकर चन्द्रमा तक पहुँचने का अत्युग्र बाल-हठ प्रकट कर दिया।

पिता के सामने कोई दूसरा चारा नहीं था। उन्होंने पहले तो पुलोमा को समझाने-बुझाने की बहुतेरी चेष्टा की किन्तु जब सब प्रकार से असफल रहे तो कृत्रिम क्रोध के स्वर में डांटते हुए बोले—यदि तू अपना हठ नहीं छोड़ेगी तो मैं तुझे पुलोमा नामक राक्षस के हाथों सौप दूँगा, जिसके बड़े-बड़े दांत हैं, और जो तुझे उठाकर जंगल में भगा ले जायगा।

ऋषिकन्या पुलोमा उस मायावी राक्षस पुलोमा की क्रूर कथाओं से अबतक परिचित नहीं थी--ऐसी बात नहीं थी। पुलोमा उस युग का भयंकर राक्षस था। वह इतना अत्याचारी और कठोर था कि ऋषियों-मुनियों के आश्रमों में उसके आगमन की चर्चा सुनकर ही आतंक छा जाता था। वह ऋषियों के आश्रमों में पहुँचते ही आग लगा देता था, उनकी गौओं को मार कर खा जाता था और उनकी स्त्रियों तथा बच्चों को उठा ले जाता था और परेशान किया करता था। निदान पुलोमा राक्षस के हाथों में अपने को सौपने की बात सुनकर पुलोमा अवसन्न हो गई और पिता के कण्ठ में लिपटकर बोली—'मेरे तात! मुझे पुलोमा को न

दीजिए; मैं चन्द्रमा तक नहीं जाउंगी। वह तो सचमुच हमसे लाखों योजन दूर है।'

ऋषि ने अपनी भोली-भाली बालिका को हृदय से लगाते हुए कहा—'बेटी ! नहीं, मैं तुझे पुलोमा के हाथों में नहीं दूंगा। तू तो बड़ी अच्छी बेटी है न। वह तो बड़ा क्रूर और अन्यायी राक्षस है। जो लोग चन्द्रमा तक जाना चाहते हैं, उन्हें पुलोंमा के हाँथों में सौंपा जाता है। तू तो मेरे पास रहेगी न।'

इस प्रकार पिता की युक्ति ने भोली बालिका की उस अदम्य आकांक्षा को कुचल कर सदा के लिए समाप्त कर किया। समय बीतता गया और ऋषि-कन्या पुलोमा वयःसन्धि की उस सीमा रेखा को पार करने लगी जो उसके माता पिता की दृष्टि में उसे किसी सुपात्र वर के हाँथों में सौप देने की बेला थी। उसके स्नेही पिता ने उसका विवाह महर्षि भृगु के साथ सम्पन्न कर दिया, जिनका आश्रम पश्चिम के समुद्र से अनतिदूर पुण्यतोया नर्मदा के पावन तट पर था।

पुलोमा अपने पति की प्राण-वल्लभा हुई। उसकी लोक-विमोहक सुन्दरता एवं सदुगुणों की चर्चा से देवांगनाओं को भी ईर्ष्या होती थी। उसके आराध्य पति महर्षि भृगु सर्वशक्तिसम्पन्न थे। यद्यपि पति के तपः प्रभाव से उसके आश्रम में कभी किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रहता था तथापि पुलोमा की प्रवृत्ति त्याग और तपस्या की थी। वह दिनरात अपने आराध्य पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता तथा भ्राता के समान समझती थी।

कुछ ही दिनों बाद पुलोमा के अलौकिक सौन्दर्य एवं उद्दाम यौवन की मादक चर्चा जब राक्षस पुलोमा के कानों में पड़ी तो वह अपने को सम्भाल नहीं सका। उसका आश्रम भी नर्मदा तट से कुछ ही दूरी पर था और दुर्योग की बात कि कभी किसी प्रसंग में उसे यह भी ज्ञात हो गया था कि सुन्दरी पुलोमा को उसके पिता ने एक बार उसे सौंपने की बात अपने मुख से कह दी थी। फिर तो वह अलौकिक सुन्दरी पुलोमा को हस्तगत

करने के प्रयत्नों में प्राण-पण से लग गया । वह जानता था कि महर्षि भृगु सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। उनके नेत्रों की एक भंगिमा भी उसके सकुल विनाश की क्रूर रचना करने में सक्षम है किन्तु वह अनुपम सुन्दरी पुलोमा को एक बार अपने प्यासे नेत्रों से पी लेना चाहता था और उसके सुकुमार मोहक अंगों को अपने भूखे अंक में भर लेना चाहता था ।

संयोग की बात । एक दिन ब्राह्मवेला में महर्षि भृगु अपने आश्रम में आसन्नप्रसवा पुलोमा को अकेली छोड़कर नर्मदा में स्नान करने के लिए गए और वहाँ उन्हें किसी विशेष कार्य से कुछ अधिक देर तक रुक जाना पड़ा । ऐसा उपयुक्त अवसर पाकर असुर पुलोमा भला कैसे चूकता । वह तो सुन्दरी पुलोमा का अपहरण करने के लिए दिन-रात ताक में लगा हुआ था । उसने माया द्वारा अपना मनोहर रूप और शृंगार बनाया और महर्षि भृगु के विविक्त आश्रम में पहुँचकर सुन्दरी पुलोमा का विधिवत् अभिवादन किया । पुलोमा ने अपने आश्रम की परम्परा के अनुसार अपने आश्रम में अभ्यागत के रूप में उपस्थित उस भद्रपुरुष के स्वागत-समादर का जब तक उपाय करना चाहा तब तक उस मायावी असुर की काम-चेष्टाएं निरर्गल हो उठीं । वह ऋषिपत्नी पुलोमा के संग अग्निशाला में प्रविष्ट होकर उससे प्रणय-निवेदन करने लगा ।

पुलोमा अवसन्न हो गई । भय से कातर उसके कलमदलायत नेत्रों में क्रोध एवं अमर्ष की ज्वाला उमड़ने लगी, उसकारक्त अधर कृश शरीर के साथ कांपने लगा । किन्तु इसी बीच मायावी पुलोमा अग्निदेव को साक्षी बनाते हुए बोला—'सुन्दरी ! तुम्हारा विवाह प्रथमत: मेरे ही संग होने वाला था । क्योंकि सब प्रकार से अकिंचन अकालवृद्ध भृगु के संग तुम्हारी जैसी त्रैलोक्य सुन्दरी का पाणिग्रहण वैसा ही है जैसे किसी अन्धे भिखारी के कण्ठ में कौस्तुभ की माला । तुम्हारे पिता ने तुम्हारा वाग्दान मेरे ही लिए किया था—इसकी पुष्टि तुम अग्निदेव से कर सकती हो ।'

पुलोमा कुछ क्षण चुप रही । वह कुछ कहना ही चाहती थी कि इसी बीच उस मायावी ने पुनः अग्नि को साक्षी बताते हुए कहा—

'सुन्दरी ! मैं तुम्हें इस अवस्था में भी अपनी अर्धांगिनी बनाने को तैयार हूँ । मेरे भवन में पहुँचकर तुम त्रैलोक्य की दुर्लभ समृद्धियों का उपभोग कर सकती हो । मैं तुम्हारे संग नन्दन कानन में विहार करूंगा । समस्त देवता एवं असुर मेरे वश में हैं, वे तुम्हारी सेवा में सदैव लगे रहेंगे । यहाँ तो गृहस्थी के सभी कार्य तुम्हें अपने हाथों करने पड़ते हैं । मैं जब सोचता हूँ कि किस प्रकार तुम उस कुरूप एवं बृद्ध तपस्वी की सेवा में लगी रहती हो तो मेरा हृदय तुम्हारी इस करुण दशा पर उमड़ आता है । मैं तुम्हें अपनी हृदयेश्वरी बनाकर इन्द्राणी के हाथों तुम्हारे चरणों की सेवा कराना चाहता हूँ प्रिये ! तुम मेरे संग चलो और उस बृद्ध तपस्वी को अपने मन-मन्दिर से निकाल दो ।'

ऋषिपत्नी पुलोमा से रहा नहीं गया । अपने आराध्य पति की निन्दा सुनकर वह क्रोधावेग से पुनः कांप उठी । वह कुछ बोलना ही चाहती थी कि पुलोम पुनः बोल उठा—'सुन्दरी ! यह विधि का विधान ही समझो कि मेरा और तुम्हारा नाम एक ही है । स्त्रियों और पुरुषों के नामों में अन्तर हुआ करता है किन्तु संयोग की महिमा देखो कि उसने हमारे तुम्हारे रूप रंग, ऐश्वर्य और यौवन में ही समानता नहीं दी, वरन् हम दोनों के नाम भी एक ही दिए हैं । मैं तुम्हारे ही सम्मुख अग्नि को बुलाता हूँ और पूछता हूँ कि तुम्हारे बृद्ध और अदूरदर्शी पिता ने किस कारण से मेरे संग वाग्दान करने के बाद भी तुम्हें उस बृद्ध ऋषि के हाथों में सौंप दिया ।'

असुर पुलोमा ने अग्नि का विधिवत् स्तवन किया । उसकी आसुरी शक्तियों से अग्नि भी भयभीत थे । उसका तवन समाप्त होते ही यज्ञ-शाला के अग्निकुण्ड में कुछ विचित्र ध्वनि हुई । प्रकाश की पीली रेखाओं से दिशाएं उद्भासित हो उठीं । गिरिगह्वर गूंज उठे और वायु के तीव्र झोकों के साथ नर्मदा की लहरों में ज्वार सा आ गया । आश्रम के पशु-पक्षी आतंक से चुप रह गए । पुलोमा बोला—अग्निदेव ! क्या इस सुन्दरी पुलोमा को मेरे हाथों सौंपने की प्रतिज्ञा इसके पिता नेनहीं

की थी। यदि मेरी बात सत्य हो तो तुम साक्षी दो अन्यथा मेरा मस्तक मेरे शरीर से पृथक् कर दो।'

पुलोमा के इस अप्रिय कथन की पुष्टि अग्निदेव ने कर दी। सुन्दरी पुलोमा ने देखा कि अग्निकुण्ड में समिधाएं नहीं डाली गई हैं। मन्त्र-पाठ भी नहीं किया गया है। फिर भी कुण्ड के मध्य भाग से एक भीषण ज्वाला उठ रही है जो अग्निदेव की स्वीकृति की सूचना है और इस स्वीकृति के संग ही असुरराज पुलोमा उसके सम्मुख मुस्कराते हुए दोनों भुजाएं फैलाए आगे बढ़ता चला आ रहा है।'

सुन्दरी पुलोमा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई। उस निर्जन आश्रम में उसका रक्षक उस समय और कोई नहीं था। वह कदली की भाँति कांपने लगी और विनय भरे स्वर में बोली—

'भद्रपुरुष! आप मेरे पूज्य अतिथि हैं। यह हो सकता है कि मेरे पिता ने मुझे आपके हाथों में सौंपने की प्रतिज्ञा की हो, किन्तु अग्निदेव को साक्षी देकर उन्होंने मेरा पांणिग्रहण जिस महापुरुष के संग कर दिया है, वही मेरे आराध्य पति हैं। मैं उनको छोड़कर भगवान विष्णु को भी अपना पति नहीं बनाना चाहूँगी। मेरे शरीर पर अब मेरा वश भी नहीं है। मैं अन्तःसत्वा हूँ। मेरे जीवन में तपस्या और त्याग की जो महिमा है वह भोग और ऐश्वर्य की नहीं है। मेरा आश्रम, मेरी गृहस्थी और मेरे पतिदेव—यह सभी मेरे लिए स्वर्ग और इन्द्र से भी बढ़कर सुख-शान्तिदायी हैं। मेरी प्रार्थना है कि आप अपने मुख से अनुचित वचन निकालकर अपना पुरुषार्थ, अपना जीवन और अपना भविष्य नष्ट न करें। मेरे पति सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। उन्हें यदि आपका यह दुर्व्यवहार ज्ञात हो जायगा तो अपका सर्वस्व क्षण भर में नष्ट हो जायगा।'

पुलोमा कामान्ध था। ऋषिपत्नी पुलोमा की उपदेश भरी वाणी सुनने की उसमें क्षमता ही नहीं थी। उसने तत्क्षण आगे बढ़कर सुन्दरी पुलोमा को अपनी भूखी भुजाओं में समेट लिया और महर्षि भृगु के

आश्रम से इस प्रकार भाग निकला जैसे कोई सिंह किसी गौ को लेकर भागे। आश्रम से कुछ ही दूर आगे जाकर उसने अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया और करुण स्वर में विलाप करती हुई ऋषिपत्नी को तर्जित करते हुये बोला—'यदि तू चुप न रहेगी तो मैं तुझे अभी खा जाऊँगा। तू ने शायद अभी मेरा नाम नहीं सुना होगा। मैं त्रैलोक्य विजयी पुलोमा हूँ, जिसके आगमन की चर्चा सुनकर देवराज अपनी प्राणप्रिय अमरावती को छोड़कर विष्णु की शरण में भाग जाते हैं। अब तू किसी भी उपाय से बचाई नहीं जा सकेगी। सारे उपाय व्यर्थ हैं। कल्याण इसी में है कि तू चुपचाप मेरे संग चली चल।'

सुन्दरी पुलोमा क्रूर राक्षस पुलोमा का नाम सुनते ही मूर्च्छित हो गई। अत्यन्त भय के कारण उसका शरीर पीला होकर निश्चेष्ट हो गया। उसके चन्द्रानन की आभा मन्द हो गई। चंचल कमल-दल के समान मनोहर नेत्र मुँद गए और मृणाल दण्डों के समान कोमल भुजाएँ केशराशि के संग नीचे की ओर झूल गईं। श्वास की क्रिया क्षीण होने लगी और ऐसा दृश्य देखकर क्रूर पुलोमा भी डर गया। इसी बीच एक अनहोनी घटना घटी, जिससे राक्षस-राज पुलोमा की आँखें मुँद गईं।

तीव्र भय के कारण सुन्दरी पुलोमा का उदरस्थ गर्भ धरती पर गिर पड़ा जिसमें सहस्रों सूर्य मण्डल जैसा असह्य तेज था। उसके धरती पर गिरते ही भूमण्डल काँप गया। पूर्वाकाश में उदीयमान रवि की किरणों में अद्भुत चमक आ गई। नर्मदा की ऊँची लहरों से आश्रम की भूमि आप्लावित हो गई। चतुर्दिक फैली वनराजि काँपने लगी और प्रचण्ड वायुवेग के कारण गगन-मण्डल में अवस्थित देवयान टकराने लगे। और धरती पर उस गर्भस्थ शिशु के गिरते ही राक्षस पुलोमा का भीषण शरीर जलने लगा। उसने ऋषि पत्नी पुलोमा को वहाँ छोड़कर आत्मरक्षार्थ भागने की चेष्टा की, किन्तु वह एक डग भी नहीं भर सका। क्षण भर में ही उसका बलवान तेजस्वी शरीर नितान्त जर्जर बन चुका था और देखते ही देखते वह भक् से जलकर भस्म हो गया।

पुलोमा के भस्म होते ही ऋषिपत्नी पुलोमा की मूर्च्छा बीत गई। उसने देखा कि आश्रम से अनतिदूर वन्य-पथ पर उसका तेजस्वी बालक अपनी मोहक आभा से अग-जग को उद्भासित कर रहा है। दसों दिशाओं में प्रसन्नता छाई हुई है और पशु-पक्षी आनन्द की उमंगों में बहे-से जा रहे हैं।

उधर नर्मदा की चंचल लहरों का अभूतपूर्व उत्पात और धरती के कम्पन का अनुभव कर महर्षि भृगु को यह समझने में देर नहीं लगी कि उनके आश्रम में कोई न कोई दुर्घटना अवश्य घटित हुईहै। ठीक उसी क्षण उनके बांएं नेत्र और भुजाओं में अमांगलिक स्फुरण भी हुआ था। फलतः वह तीव्र गति से आगे बढ़ते हुए अपने आश्रम की ओर चले ही आ रहे थे कि मध्यमार्ग में उन्हें अपनी वत्सा गौ मिली, जो अतीव प्रसन्नता से उछल कूद मचाती हुई महर्षि को पुत्र-जन्मोत्सव का मंगल संवाद सुनाना चाहती थी। महर्षि रुक गए, उन्होंने देखा कि उनके आश्रम में पशु-पक्षियों का मांगलिक नृत्य हो रहा है। वृक्ष-वन-स्पतियों में अपूर्व प्रसन्नता थिरक रही है, और अब अकस्मात् उनकी दक्षिण भुजा भी फड़कने लगी है। कुछ ही क्षणों के भीतर ऐसे विपरीत शकुन देखकर वह क्षण भर रुककर ध्यानावस्थित हो गए और अपने तपः प्रभाव के कारण आश्रम में घटित घटना का सांगोपांग उन्हें तत्क्षण ज्ञान हो गया।

फिर तो विद्युतगति से आगे बढ़कर वह वहां पहुँचे, जहां उनकी प्राणप्रिया पुलोमा अब भी भयचकित नेत्रों से इधर उधर देखती हुई अपने पुत्र को अपने धूल धूसरित अंक में लिए हुए बैठी थीं। अपने आरा-ध्य पति को देखते ही पुलोमा करुण क्रन्दन करती हुई उनके चरणों पर गिर पड़ी और सहज भाव से उस क्रूर राक्षस की सारी करतूतें कह सुनाईं और उसी प्रसंग में अग्निदेव की उस विचित्र साक्षी की भी चर्चा की।

महर्षि भृगु को पुलोमा को भस्म होने का पता तो चल ही गया था। अतः उनके प्रचण्ड क्रोध की ज्वाला में अग्निदेव को ही झुलसना

पड़ा। अपनी पत्नी तथा सद्योजात पुत्र के संग क्रोध से कांपते हुए भृगु जब अपनी यज्ञशाला में पहुँचे तो वहां का दृश्य विचित्र था। यज्ञकुण्ड में अनेक वर्षों से कभी न बुझने वाले अग्नि देव कब के शान्त हो चुके थे और ऐसा मालूम पड़ता था मानों महर्षि भृगु और उनके तेजस्वी पुत्र की तेजस्विता के सम्मुख नतशिर होकर वह वहीं अन्तर्हित हो गए हों। अग्निदेव की यह दूसरी करतूत भी भृगु के लिए असह्य थी, उन्होंने तत्क्षण अग्नि को शाप देते हुए कहा—'मतिभ्रष्ट! आज से तुम्हारा वास्तविक रूप नष्ट हो जायगा और तू सर्वभक्षी बन जायगा।'

पुराणों का कथन है कि महर्षि भृगु की इस शापाग्नि में दग्ध अग्निदेव का स्वरूप जब अन्तर्हित हो गया तो त्रैलोक्य में हाहाकार मचा देखकर स्वयं भगवान पितामह ने अग्नि की रक्षा की और भृगु के इस अमोघ शाप के शमनार्थ अग्नि के क्रव्याद् स्वरूप को सर्वभक्षण के लिए नियुक्त कर दिया।

महर्षि भृगु और पुलोमा ने अपने उस तेजस्वी पुत्र का च्यवन नाम रखा, जो अपनी अलौकिक तेजस्विता, प्रतिभा और तपःसाधना के बल पर अपने पिता के समान ही ब्रह्मवेत्ता हुआ। उसकी चमत्कारिणी विद्या और तपस्या की अनेक मोहक कथाओं से पुराणों का शृंगार हुआ है।

नमुचि का अश्वदान

पुराणों में देवताओं एवं असुरों के युद्धों का रोमांचकारी वर्णन है। और जो कथाएं दी गई हैं, उनमें से अधिकांश में असुरों अथवा दैत्यो एवं दानवों के अत्याचारों का ही वर्णन किया गया है। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सभी असुर अत्याचारी और अन्यायी थे तथा देवता लोग ही न्यायपरायण एवं मर्यादा रक्षक थे। दानवों में भी बलि, प्रह्लाद, नमुचि जैसे सत्यप्रतिज्ञ, दानी तथा उदार विचारों वाले मनस्वी पुरुष थे, जिनके गुणों के सामने देवराज इन्द्र की महिमा फीकी पड़ जाती थी। दानवों में से एक रत्न नमुचि की कथा नीचे दी जा रही है।

देवताओं और असुरों सभी के पिता महर्षि कश्यप थे। हां, उनकी माताएं अनेक थीं। महर्षि कश्यप की अनेक पत्नियों में अदिति से आदित्य अर्थात देवगण, दिति से दैत्य तथा से दनु से दानवों की उत्पत्ति कही जाती है। नमुचि दनु का पुत्र था। वह जैसा पराक्रमी, शूर-बीर और निर्भीक था, वैसा ही सत्य-प्रतिज्ञ, दानी तथा पर दुःख कातर था। उसका शरीर बज्र जैसा कठोर था और बड़े से बड़ा काम करने में भी वह कभी हिचकता नहीं था। अभी उसकी अवस्था बहुत थोड़ी थी कि देवताओं की देखादेखी उसमें भी कठोर तपस्या करने की दृढ़ भावना जगी। उसने निश्चय किया कि वह ऐसी तपस्या करेगा, जैसी अबतक धरती पर किसी दूसरे ने न की हो। ऐसी कठोर अनुपम तपस्या करने के लिए उसने जब अपने पिता महर्षि कश्यप से आज्ञा मांगी तो उन्होंने कहा—'वत्स! तुम्हारा विचार उत्तम है। किन्तु ऐसी कठोर तपस्या करने के पूर्व तुम्हें अपना तन-मन भी पवित्र एवं सात्विक भावनाओं से भरापुरा बना लेना चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि तुम परोंपकारी बनो, दानी बनो, दूसरों की विपत्तियों में सहायक

बनो। किसी को पीड़ा मत पहुँचाओ, मिथ्या व्यवहार न करो। ये सभी शुभ कर्म ऐसे हैं, जो किसी तपस्या से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इनका अभ्यास कर लेने के बाद तुम्हें कठोर तप करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी।

नमुचि ने पिता की आज्ञा शिर पर धारण की और उनके सम्मुख यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि आज से नमुचि के लिए संसार में कोई भी वस्तु किसी याचक के लिए अदेय नहीं होगी। वह कभी किसी को सताएगा नहीं। वह कभी झूठ नहीं बोलेगा और परोपकार में रत रहेगा। महर्षि कश्यप ने नमुचि का अभिनन्दन किया और उसी दिन से समुचि के जीवन का क्रम बदल गया। उसके शरीर में अपार शक्ति थी। वह हिमालय को हिला सकता था और समुद्र की लहरों को रोक सकता था किन्तु अब वह इतना उदार, धीर, गम्भीर और परोपकारी बन गया कि देवताओं की भी उससे परम प्रीति हो गई। वह असुरों का राजा था। देवता उसके सहज वैरी थे, किन्तु कभी किसी भी देवता को उसने निराश नहीं किया, न किसी का अपमान किया। जिस आदर की भावना से वह असुरों के साथ व्यवहार करता उसी भावना से देवताओं के साथ भी। उसके इस मृदु व्यवहार का अनुकूल परिणाम हुआ। देवताओं और असुरों का वैर भाव बहुत कुछ मलिन हो गया और यह आशा होने लगी कि नमुचि के सत्प्रयत्न से यह पुराना विवाद सदा के लिए समाप्त हो जायगा।

किन्तु स्त्रियों की ईर्ष्याग्नि कभी शान्त नहीं होती। अपने समर्थ पुत्र नमुचि के इन व्यवहारों से उसकी माता दनु को भीतर भीतर बड़ा असन्तोष रहता था। वह चाहती थी कि देवताओं ने अतीत में उसके पुत्रों के साथ जो अन्यायपूर्ण व्यवहार किए हैं, उन सब का बदला नमुचि चुकाए। वह दिन रात देवताओं के विरुद्ध नमुचि के भावों को दूषित करने का प्रयत्न करती रहती थी, किन्तु नमुचि पर माता से अधिक अपने पिता महर्षि कश्यप का प्रभाव था और वह देवताओं के साथ मेल जोल करने के पक्ष में अन्त तक बना रहा।

जब देवताओं ने असुरों के साथ मिलकर समुद्र के मन्थन का प्रस्ताव उपस्थित किया तो नमुचि ने हृदय से देवताओं का समर्थन किया और अपनी माता तथा अन्य सजातीय दानवों तथा दैत्यों के विरोध करने पर भी देवराज इन्द्र को आश्वासन दिया कि असुर जाति देवताओं के इस महत्त्वपूर्ण प्रयास में तन-मन से सहयोग करने को तैयार है, किन्तु शर्त यह है कि समुद्र से जो भी अच्छी या बुरी वस्तुए प्राप्त हों, उनमें से कुछ असुरों को भी दी जायँ। देवराज इन्द्र ने नमुचि के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और असुरों के साथ मिलकर देवताओं ने समुद्र-मन्थन का कार्य आरम्भ कर दिया।

समुद्र-मन्थन में जो चौदह रत्न निकले उनमें से भगवती लक्ष्मी को देवताओं के स्वामी इन्द्र के अनुसार भगवान विष्णु ने लिया और जब उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा निकला तब असुरों के परामर्श से उसे दानवराज नमुचि ने लिया। शेष रत्नों को देवताओं और असुरों ने पारस्परिक समझौते के मतानुसार बांट लिया, किन्तु अमृत के बंटवारे का प्रश्न बड़ा विकट पड़ा। उसे देवता स्वयं ले लेना चाहते थे और उसकी एक बूंद भी दानवों अथवा दैत्यों को नहीं देना चाहते थे, क्यों कि उसकी एक बूंद पीने भर से कोई भी अमर हो सकता था। देवताओं को भय था कि यदि इस अमृत के द्वारा एक भी दानव या दैत्य अमर हुआ तो देवजाति को सदा के लिए भयंकर खतरा उपस्थित हो जायगा। किन्तु असुर भी अपनी शक्ति भर अमृत को देवताओं के लिए सब का सब छोड़ देने को तैयार नहीं थे। फिर तो वही हुआ, जो होना था। अमृत के कलश को छीनने के प्रयत्नों में दोनों दलों में भयंकर संघर्ष प्रारम्भ हो गया, और तीनों लोकों में देवताओं तथा असुरों का रोमांचकारी युद्ध मच गया।

अन्त में भगवान विष्णु की माया तथा चतुरता से अमृत का जो बँटवारा हुआ, उसमें देवताओं को ही अधिकांश मिला और दानवराज नमुचि को उच्चैःश्रवा नामक जो घोड़ा मिला था, उसमें भी अमृत

का गुण मानकर असुरों को सन्तोष करना पड़ा। बात यह हुई कि उच्चैःश्रवा कोई मामूली घोड़ा नहीं था। उसमें अद्भुत शक्ति थी। वह जिस किसी मुर्दे को सूंघ लेता था वह पुनर्जीवित हो जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि देवताओं और असुरों के उस त्रैलोक्य व्यापी युद्ध में जितने भी प्रमुख असुर मारे गए थे, उन सब को उच्चैःश्रवा ने सूंघकर पुनर्जीवित कर दिया।

उच्चैःश्रवा घोड़े की इस अद्भुत शक्ति को जब देवराज इन्द्र तथा देवताओं के गुरु बृहस्पति ने सुना तो उनको बड़ी निराशा हुई। कुछ प्रमुख देवताओं को अमृत पिलाकर जो वह असुरों की ओर से निश्चिन्त हो गए थे, सो सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। क्योंकि इस उच्चैःश्रवा अश्व द्वारा असुरों को भी वही सिद्धि मिल चुकी थी।

किन्तु देवराज इन्द्र कूटनीतिज्ञ थे और देवताओं के गुरु बृहस्पति की बुद्धि के सामने त्रैलोक्य में भी कोई समस्या विकट नहीं थी। कई दिनों के विचार के बाद देवगुरु बृहस्पति ने इन्द्र से कहा कि—'देवराज ! तुम स्वयं जाकर दानवराज नमुचि से उस घोड़े को मांग लोओ। शत्रु होने पर भी नमुचि तुम्हें वह घोड़ा अवश्य दे देगा क्योंकि संसार में उसके समान दानवीर कोई पैदा नहीं हुआ। और यदि वह तुम्हें घोड़ा नहीं भी देगा तो अपने धर्म एवं मर्यादा से च्युत होने के कारण भी उसका पतन हो जाना सम्भव है। क्योंकि यशस्वी जीवन विताने वाले महापुरुषों को एक मामूली घटना भी विचलित कर देती है और वे अपने प्राणों के रहते अपनी मर्यादा से च्युत होना पसन्द नहीं करते।'

देवराज इन्द्र को अपने गुरु बृहस्पति की यह सलाह सामयिक मालूम पड़ी और वह प्रमुख देवताओं को संग लेकर दानवराज नमुचि के दरबार में स्वयं उपस्थित हुए। दानवराज नमुचि को प्रमुख देवताओं से संग देवराज इन्द्र की यह आकस्मिक उपस्थिति देखकर बड़ा हर्ष हुआ और अपने सहज वैरभाव को छोड़कर उसने सब प्रकार से

उनका विधिवत स्वागत समादर किया और कुशल-क्षेम पूछने के अनन्तर उनके आगमन का प्रयोजन पूछा।

देवराज ने बड़ी चतुराई तथा विनम्रता के साथ दानवराज नमुचि से उच्चैःश्रवा घोड़े को अपने लिए जब मांगा तो नमुचि के दरबार में सनसनी फैल गई। उसके मंत्रियों के तेवर बदल गए और असुरों के गुरू शुक्राचार्य ने भरे दरबार में देवराज इन्द्र की भर्त्सना करते हुए दानवराज नमुचि को स्पष्ट आदेश दिया कि इन मायावी देवताओं पर कभी विश्वास न करो और उच्चैःश्रवा घोड़े को तो इन्हें कदापि न दो। देवराज इन्द्र नमुचि की ओर देखकर मुस्कराने लगे और असुरों ने बड़े क्रूर नेत्रों से उन्हें देखा।

किन्तु दानवराज नमुचि की दशा विचित्र हो गई। कुछ क्षणों के लिए वह हतप्रभ हो गया। उसका मुख सूख गया और चेतना लुप्त सी हो चली। किन्तु तत्क्षण वह पुनः संभल गया। अपने आचार्य शुक्र के चरणों पर प्रणिपात करते हुए विनयभरी वाणी में बोला—

'गुरुदेव ! नमुचि ने अपने जीवन में किसी याचक को न लौटाने की जो प्रतिज्ञा की है, उसका पालन वह जीवन भर करना चाहता है। मैं जानता हूँ कि देवराज मेरे सहज बैरी हैं और उच्चैःश्रवा उनकी आंखों का कांटा है, जिसे अपने अधीन करके वह असुरों को समाप्त करना चाहते हैं, किन्तु मैं फिर भी उच्चैःश्रवा को उन्हे दे दूँगा और जीवित रहते हुए अपने निर्मल जीवन पर यह कलंक नहीं लगने दूँगा।'

फिर तो असुरों के लाखों विरोध करने पर भी नमुचि ने उच्चैःश्रवा को देवराज इन्द्र को समर्पित कर दिया और इस भय से कि कहीं असुर मध्यमार्ग में ही उसे छीन न लें, स्वयं अपने सतर्क सैनिकों के संरक्षण में देवराज की नगरी अमरावती तक सकुशल पहुँचा दिया।

उच्चैः श्रवा को प्राप्त कर लेने पर देवताओं की शक्ति अजेय हो गई और असुर निःशक्त तथा श्रीविहीन से हो गए। किन्तु नमुचि जैसे प्रचण्ड पराक्रमी, तपस्वी, महादानी तथा यशस्वी राजा को पाकर

असुरों की शक्ति फिर भी देवजाति के हृदय में शूल की भांति सदैव चुभती थी। त्रैलोक्य में जिधर देखिए उधर नमुचि की कीर्ति कौमुदी बिखरी हुई थी और जब से उसने उच्चैःश्रवा का दान कर दिया था, तब से तो वह जन-जन के मन में आदर और श्रद्धा का भाजन बन गया था। उसकी शारीरिक शक्ति भी अनुपम थी। एक कथा के अनुसार दस सहस्र वर्षों तक धूम्रपान करके उलटे लटकते हुए नमुचि ने अपनी प्रचण्ड तपस्या और आराधना से पितामह ब्रह्मा को ऐसा बरदान देने के लिए विवश कर दिया कि उसकी मृत्यु पत्थर, लोहा या लकड़ी के बने हुए किसी भी हथियार से नहीं हो सकेगी। किन्तुः उच्चैश्रवा के प्राप्त कर लेने के बाद देवराज इन्द्र पर यह चिन्ता सवार हो गई कि जैसे भी हो नमुचि रूपी कण्टक को सदा के लिए उखाड़ कर फेंक देना ही उचित है।

अतीत में नमुचि के संग देवराज के अनेक युद्ध हुए थे, जिनमें वह बराबर हारते आ रहे थे। अमर होने के कारण यद्यपि उनकी मृत्यु तो नहीं हो सकती थी तथापि प्रत्येक बार की पराजय में उनकी ऐसी दुर्दशा होती थी, जो किसी प्रकार से मृत्यु से कम दुःखदायिनी नहीं होती थी। नमुचि ने अनेक बार देवराज को पराजित एवं अपदस्थ करके छोड़ दिया था, जिसकी कसक उसके हृदय में सदैव रहती थी। अब उच्चैः श्रवा को प्राप्त कर लेने पर वे अधिक दिनों तक चुप बैठे नहीं रह सके और एक दिन धोखे में गंगा नदी के तट पर उसके जल प्रवाह से उत्पन्न फेन राशि के भीतर अपने वज्र को छिपाकर उन्होंने बेचारे नमुचि का अनजाने में संहार कर डाला और इस प्रकार असुरों को सदा के लिए निःशक्त बना दिया।

किन्तु नमुचि मरकर भी अमर हो गया। उसकी कीर्ति निष्कलुष बनी रही और जीवन में उसने जो मर्यादा स्थिर की थी, जो व्रत अंगीकार किया था, उसका शरीर के संग पालन करके उसने दिखा दिया कि सद्गुण और सद्विचार किसी जाति विशेष के मुहताज नहीं होते।